रसो वै सः

माधोदास मूँधड़ा

भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान
रतन बिहारी पार्क, बीकानेर (राजस्थान)

रसो वै सः

माधोदास मूँधड़ा

भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान
रतन बिहारी पार्क, बीकानेर (राजस्थान)

प्रकाशक भारतीय विद्या मन्दिर
रतन बिहारी पार्क
बीकानेर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण १९९२

मूल्य रु १००

प्राप्तिस्थान १२/१ बी नेल्लि सेनगुप्ता सरणी
(लिन्डसे स्ट्रीट)
कलकत्ता - ७०० ०८७

मुद्रक भारत लिथोग्राफिंग क०
९८/४ एस एन बनर्जी रोड
कलकत्ता ७०० ०१४

कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्

मेरे इष्ट प्रभु

ठाकुरजी श्री मदनमोहनलालजी
के
श्री चरणों में

श्रद्धा सहित
समर्पित

प्राक्कथन

भारतीय सग्रहालय के निदेशक के रूप में मेरे कलकत्ता प्रवास की अवधि में एक महत्वपूर्ण सयोग घटित हुआ वह था डॉ०(अब स्वर्गीय) प्रभाकर माचवे द्वारा भारतीय सस्कृति ससद से न केवल परिचय अपितु वहा के कुछ विद्वान्, मनीषी, व्यवस्थापक व प्रबधकों से निकटता स्थापित कराना। ऐसा प्रतीत हुआ कि सभवत दिवगत होने के पूर्व ससद सम्बधी कुछ उत्तरदायित्व वह मुझे सौप गए थे। यद्यपि अपनी अल्पज्ञता वश मैने उस विलक्षण प्रतिभा - सम्पन्न विभूति की इच्छा को गम्भीरता से नहीं लिया किन्तु ससद के स्नेही मित्र इसे यथार्थ मानकर मेरे दिल्ली स्थानान्तरण पर भी मुझे अपने उत्तरदायित्व का निरन्तर बोध कराते रहते हैं। मैं भी राष्ट्र भाषा के माध्यम से साहित्य कला और सस्कृति की अजस्र त्रिवेणी स्वरूप भारतीय सस्कृति ससद से अपने दूरस्थ नैकट्य को सौभाग्य सूचक मानता हूँ।

इसी दिव्य सयोग की शृखला मे ससद के कार्य कलापो के प्रेरणा स्रोत श्री माधो दास जी मूधड़ा का मुझ पर विशेष स्नेह रहा है। ससद में मेरे कुछ व्याख्यान उन्होंने सुने विचार और तर्क वितर्क हुआ और उन्होंने गोष्ठी परिचय को स्थायित्व प्रदान करने का सकल्प ले लिया। फलत अपनी पुस्तक का अन्तिम आलेख ले वह कलकत्ते से दिल्ली पहुँच गए। मेरे लिए यह बड़े सकोच का अवसर है कि पुस्तक की भूमिका लिखू किन्तु उनकी आत्मीयता और स्नेह की बाढ़ ने सकोच प्रवाहित कर दिया और सहमति के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह गया।

वैदिक सूक्ति है अग्नि पूर्वेभि ऋषिभि ईड्यो नूतनैरिव' अर्थात् अग्नि की उपासना पूर्व ऋषियों ने की और नए मुनि भी करते रहेंगे। अग्नि यज्ञ के समान ज्ञान यज्ञ भी है जिसमें मनीषी अपने अध्ययन अनुशीलन और चिन्तन की आहुति डालकर स्वय तो कृतकार्य होता ही है साथ ही लोकोपकार अथवा लोक मगल की भी सिद्धि करता है। इसी परम्परा मे बहुज्ञ बहुभृत एव सुधी चिन्तक श्री माधोदास जी मूधडा की प्रस्तुत कृति है।

इसके छ अध्यायों में शेपे पष्ठी का स्मरण करते हुए भारतीय चिन्तन धारा के विशिष्ट सोपानो को षड् दर्शन की भाति मानता हूँ। वेद गीता, भागवत, धर्म एव कला के सौंदर्य के माध्यम से वह परम रस तत्व तक पहुँच गए हैं। इनमें ज्ञान वैराग्य, कर्म भक्ति और लालित्य सभी पक्षों को आलोकित किया है। ये निब ध गम्भीर चिन्तन और अनुभूति के समन्वय से नि सृत हैं। षड् चक्र की तीलियो की भाति एक ही केन्द्र बिन्दु अर्थात् श्री कृष्ण की सत्ता से प्रस्फुटित हो एक विशिष्ट आध्यात्मिक भा मडल की परिधि का निर्माण करते हैं।

इन छ अध्यायों में पारमार्थिक चिन्तन के साथ जीवन के शाश्वत मूल्यों की भी व्याख्या प्रतिष्ठा और अपरिहार्यता को भी दिग्दर्शित किया है। भारतीय दर्शन को आधार मानते हुए कही-कही पाश्चात्य दर्शन के माध्यम से भी मन्तव्य को पुष्ट किया गया है।

धर्म और सम्प्रदाय का विवेचन करते हुए विद्वान् ने कितनी सरलता से यह सत्य उद्घाटित किया है धर्म भूमि है उस पर नाना पथ है। सम्प्रदाय ही पथ है वह भूमि नहीं है। वे बनते बदलते और मिटते हैं।

इसी प्रकार कला की समीक्षा भी बड़ी सार गर्भित बन पड़ी है। यदि वह (कला) यथार्थ का ही चित्रण है तो उसमे कलाकार की सर्जनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति नही होगी। उसमें सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की प्राणवत्ता नहीं रहेगी।' आगे अपने विचार एव भावो की विराट चेतना के स्तर पर अभिव्यक्त करना कला की श्रेष्ठतम उपलब्धि है।

अध्याय के आरम्भ में कला की व्युत्पत्ति दी है। इसमें मेरी यह सभावना भी विचारणीय है क आनन्द लालयति इति कला अर्थात् जो आनन्द की वृद्धि करती है, वह कला है। ललित शब्द की वृद्धि करने से आनन्द के साथ लालित्य का सवर्धन भी अपेक्षित हो जाता है।

लेखक ने गीता सार विवेचन के प्रस्तुतीकरण म इस अप्रतिम महत्व के ग्र थ पर मन्तव्य व्यक्त किया है यह ग्रन्थ मानव मात्र के उद्धार तथा उसके कर्तव्यों की बात बतलाता है। इस दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ किसी भी सम्प्रदाय देश समुदाय तथा किसी वर्ग विशेष का नही है। यह समस्त मानवजाति के हित का है और उसके लिए है। श्री अरविन्द

ने भी गीता पर अनेक निवन्ध लिखते हुए मत व्यक्त किया है कि गीता का अध्ययन किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर न किया जाए। अन्यथा व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार उसका अभिप्राय निकालने लगेगा। यह तो एक दीप स्तम्भ की भाति है जिससे हम स्वय को आलोकित करें न कि अपने स्वय के विचार अथवा पूर्वाग्रह उसकी व्याख्या में थोपें।

भारतीय दर्शन के आदि व अजस्र स्रोत वेदों के महत्व पर विचार व्यक्त करते हुए सार रूप में लेखक का कथन कितना स्पृहणीय है वेदों में उस तत्व का दर्शन प्रस्तुत हुआ है जो मानव मात्र को असत् से सत् की ओर अधेरे से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है। इस परम तत्व के साक्षात्कार से परमानन्द की अनुभूति प्राप्त होती है।

भागवत, गीता व रसो वै स सम्बन्धी निवन्ध श्री मूधडा जी की इष्ट प्रवृत्ति के द्योतक होने के साथ ही विश्लेषण चिन्तन, एव भक्ति के समन्वय के माध्यम से परम सत्ता को हृदयगम करने के भिन्न सोपान हैं।

मुझे इन सभी निवन्धों को आद्योपन्त पढ आत्यन्तिक सुखानुभूति हुई। आशा है भारतीय सस्कृति कला व दर्शन के अनुष्ठाताओं को ये लेख सास्कृतिक एव आध्यात्मिक चेतना के उन्नयन के लिए प्रेरित व स्पन्दित करने में समर्थ होंगे और यही श्री मूधड़ा जी के दीर्घचिन्तन अध्ययन अनुशीलन और अनुगुनन का सुफल होगा।

मैं उनके दीर्घायुष्य की कामना करता हुआ पुस्तक प्रणयन के साथ परिपक्व ज्ञान व अनुभव की महत्वपूर्ण थाती सौंपने के लिए उन्हें वधाई व साधुवाद देता हूँ।

नई दिल्ली
10 2 92

— डॉ० रमेश चन्द्र शर्मा
(महानिदेशक एव कुलपति)
राष्ट्रीय सग्रहालय एव सस्थान नई दिल्ली।

आमुख

भारतीय अध्यात्म को समझने की अनेक वर्षों से इच्छा थी। गत तीन-चार वर्षों से यह भावना और भी तीव्र हो गयी। पुष्टिमार्गीय बल्लभ सम्प्रदाय में जन्म लेने के कारण कुछ तो सस्कार आरम्भ से ही पड़े हुए थे फिर छोटी अवस्था में नित्य लीलास्थ पूज्य गोस्वामी श्री दीक्षितजी महाराज के साथ अनेक दिन रहने का सौभाग्य मिला। वे मुझसे ५-७ वर्ष बड़े थे और एक तरह उनके साथ मेरा आत्मीय भाव स्थापित हो गया था। उन्होंने सस्कृत साहित्य के मेघदूत" काव्य एवम् श्रीमद् भागवत के रासपचाध्यायी जिसमें विशेषत गोपी गीत को सहज एव सरसता के साथ मुझे समझाया। उसकी अमिट छाप अभी तक मेरे मन पर पड़ी हुई है। कुछ वर्षों के उपरान्त उनके साथ बम्बई में रहा। उस समय उन्होंने वैदिक दर्शन के विभिन्न पक्षों के सबध में भी जानकारी प्रदान की। इन वर्षों में नित्य लीलास्थ पूज्य श्री रणछोड़लालजी महाराज प्रथमेश का सान्निध्य भी प्राप्त होता रहता था। उनका मुझ पर अत्यन्त स्नेह था। उन्होंने गीता और भागवत के मुख्य तत्वों से मुझे अवगत कराया।

इस सबध में भारतीय सस्कृति ससद का उल्लेख करना समीचीन होगा। वहाँ पर समय-समय पर विद्वानों सतों एव महात्माओं के प्रवचन आध्यात्मिक विषयों पर होते रहते ही हैं। इसमें स्वर्गीय स्वामी आत्मानन्दजी का नाम प्रमुख है। ससद में गोष्ठी अध्ययन गोष्ठी नियमित रूप से होती आ रही है। इन गोष्ठियों के माध्यम से मुझे अध्ययन एव चिन्तन करने का अवसर प्राप्त होता रहता था। ससद आध्यात्मिक एव सास्कृतिक अभिरुचियों

को विकसित करने की प्रेरणा देती रही है। यही कारण है कि इन गम्भीर विषयों पर अनेक जिज्ञासाएँ होती रहीं जिनके समाधान के लिए इन लेखों में प्रस्तुत विषयों के सबध में अनेक ग्रथों को पढा सत और महात्माओं के प्रवचन सुने, विद्वानों से विचार विमर्श किया, मित्रों से भी बराबर परामर्श करता रहा एव साथ ही साथ स्वय भी मनन-चिन्तन करता रहा। ऐसा प्रतीत हुआ कि जब तक इन विचारों को लिपिबद्ध नहीं किया जायेगा तब तक सुस्पष्टता नहीं बन पायेगी। यह लेख माला उसी की परिणति है। यह विषय अत्यन्त ही गम्भीर है और इसका सपूर्ण रूप से विवेचन इन छोटे-छोटे लेखों के द्वारा करना सभव नहीं है। किन्तु इनका अध्ययन सबके लिए सभव नहीं होता। अत मेरा यह विनम्र प्रयास है कि युवापीढी इन लेखों को पढकर इन विषयों का एक सक्षिप्त परिचय प्राप्त करे। ये लेख उनके समक्ष इन विषयों का एक रेखा चित्र प्रस्तुत करते हैं। जिनको विशेष ज्ञान की इच्छा होगी वे स्वय विशेषज्ञों द्वारा लिखे हुए सूक्ष्म चितन परक ग्रथों का अध्ययन करेंगे। इन विषयों पर गम्भीर पुस्तकों को पढने का आज कल धैर्य कम लोगों में है। अत इन लेखों में भाषा को सरल रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। किन्तु विषय ही इतने गम्भीर हैं जिनके कारण शायद जगह-जगह पर सामान्य जटिलता आ गयी हो तो यह एक विवशता ही समझना चाहिए।

इन लेखों में विषयों का चयन करने में एक क्रमबद्धता रखी गयी है। प्रथम लेख वेद से सबधित है। वेद ग्रन्थ विश्व साहित्य के आदि ग्रथ हैं- इनमें दर्शन के मूल तत्व बीज रूप में समाहित हैं। दर्शन हमारे जीवन के लक्ष्य निर्धारण करता है। इस तत्व को किस तरह प्राप्त किया जाय इसके लिये धर्म का आधार आवश्यक है अत दूसरे धर्म विषयक लेख में धर्म का विवेचन एव उसके विविध आयामों का सक्षेप में वर्णन किया गया है।

गीता हमारे अध्यात्म जीवन का एक उत्कृष्ट ग्रथ है। इसमें ज्ञान कर्म और भक्ति का समन्वयात्मक ढग से निरूपण हुआ है। मानव की प्रकृति अलग-अलग होती है। जो मार्ग उसे अपने अनुकूल लगता है उसी के अनुसार वह साधना करे। गीता पढने से हमें हमारे कर्तव्य बोध का ज्ञान होता है और तद्नुरूप आचरण करने से आत्म साक्षात्कार भी सम्भव है। ज्ञान और सत्य तो ब्रह्म ही हैं परन्तु रसपूर्ण भावना के बिना वह अधूरा ही रहता है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए वेदव्यासजी ने श्रीमद्‌भागवत पुराण की रचना की जिसमें प्रेम लक्षणा भक्ति का सुन्दर वर्णन हुआ है। मानवीय प्रेम उदात्त होकर दिव्य प्रेम में परिणत हो जाता है। भक्त के सारे कार्य भगवद् प्रीत्यर्थ हो जाते हैं। प्रभु का निरन्तर स्मरण करने से शरणागति का भाव दृढ़ हो जाता है। यह साधना हर व्यक्ति के

लिए सहज एव सुलभ है। यद्यपि विद्वानों के लिए भी भागवत में पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है परन्तु भागवत मूलत प्रेम लक्षणा भक्ति को ही प्रतिपादित करता है। ज्ञान और प्रेम का इसमें अद्भुत समन्वय हुआ है। रसौ वै स " शीर्षक निबन्ध में भगवान के रस रूप का सविस्तार विवेचन हुआ है। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। हमारे सारे शास्त्रीय ग्रथ सस्कृत भाषा में लिखे गये हैं उनको पढ़ना और समझना जन-साधारण के लिये अत्यन्त दुरूह है अत ज्ञान कर्म योग, भक्ति निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म इन सब विधाओं पर हमारे सत एव भक्त कवियों ने जन-जन की भाषा में अपने सरस पदों द्वारा अभिव्यक्त किया है। यही कारण है कि भारतीय जनता दर्शन के मूल सिद्धान्तों को जानती है ज्ञान और भक्ति की बात समझती है। भारतीय जनता इसीलिए स्वभाव से धर्म प्राण बन गई है।

धर्म मे जीने के लिये कुछ बातें आवश्यक हैं। जीवन सस्कार युक्त और सुसस्कृत हो इसके बिना साधना कठिन हो जाती है। सस्कृति' के लेख में इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। मानव की प्रवृत्ति सौन्दर्योन्मुखी है और वह उससे रस प्राप्त करता है। उसका मुख्य माध्यम कला ही है। अत कला' शीर्षक लेख में इसकी सक्षिप्त चर्चा हुई है तथा उसके विभिन्न पक्षों का इस लेख में विधिवत विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत सौन्दर्य बोध अध्यात्म एव सस्कृति का निरूपण किया गया है। मनुष्य सदैव ही सुखी रहना चाहता है। सच्चा सुख कैसे प्राप्त हो यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। सुख एक चिन्तन निबन्ध इस विषय की ओर इगित करता है।

मौन " के सबध मे हमलोगों के मन में अनेक भ्रान्तियाँ है। मूकता और मौन को हम पर्यायवाची मान लेते है वस्तुत दोनो भिन्न स्थितियाँ हैं। मौन मन का तप है और व्यक्ति यदि वास्तव में सच्चे मौन की स्थिति में पहुँच जाता है तो यह उत्कृष्ट उपलब्धि होगी। ब्रह्म की अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा बतानी सभव नहीं है। मौन रहकर ही हम उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। अत इस पुस्तक का उपसहार ' मौन लेख से सपन्न किया है।

इस लेख माला मे इन गभीर विषयों पर अनेक विद्वानो द्वारा सैकड़ों ग्रथ लिखे गए हैं एव लिखे जा रहे हैं। मेरे जैसे अदने व्यक्ति के लिये इस विषय पर लिखने का प्रयास करना अनावश्यक प्रतीत होता है। भूल एव भ्रान्तियाँ होनी इसमे अत्यन्त स्वाभाविक है। आशा है सुधी पाठक वृन्द इसे मेरी अज्ञता समझकर क्षमा करेंगे।

इस लेख माला को सम्पन्न करने मे काफी समय लगा है और इस कार्य में मुझे अनेक व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हुआ है। सर्व प्रथम मै श्री जयकिशनदासजी सादानी के सबध में दो शब्द कहना चाहूँगा। मैं तो कार्य की कठिनता को देखकर हार सा गया था-लेकिन उन्होंने मुझे बराबर प्रोत्साहित किया। उनके सहयोग के बिना यह कार्य सपन्न

होना अत्यन्त ही मुश्किल था। उनके सान्निध्य में बैठकर प्रत्येक विषय पर गभीर रूप से विचार विनिमय होता रहा। इन लेखों में किन-किन विषयों को लिया जाय और इसकी क्रमबद्धता क्या हो इस सबध में उनका सहयोग प्राप्त हुआ। भाव जहाँ पर भाषा में सुस्पष्ट नहीं हो पा रहे थे, वे स्थल उन्होंने सुधारे एव विद्वता पूर्ण ढग से सपादित किए। इस पुस्तक में वर्णित लेखों में सस्कृत के अनेक श्लोकों का उद्धरण देकर उन्हें यथा-स्थान इन लेखों में दर्शाया गया है— उनका चयन भी उन्होंने ही करके दिया था। दूसरे शब्दों में कहें तो यह निबध माला उनके सहयोग एव मार्ग दर्शन का ही फल है। इस आत्मीय सहयोग के लिए मैं उनका चिर-ऋणी हूँ। प० अक्षयचन्द्रजी शर्मा जिनसे मेरा लगभग 45 वर्षों से सबध है-वे हमारे घर में शिक्षक थे। परिवार के सभी लोगों के तो गुरुजी हैं। उनसे मैंने गीता एव उपनिषद पढ़े थे। उन्होंने भी अनेक सुन्दर सुझाव दिये और साथ ही कल्याणमलजी लोढ़ा ने इन लेखा की पाडुलिपि को आद्योपात पढा। इन महानुभावों ने केवल मात्र अपने अमूल्य सुझाव ही नहीं दिये बल्कि विषय सबधी जो वार्ते छूट गयी थीं तत्सबधी मार्ग-दर्शन भी किया। मैं इन लोगों का हृदय से आभारी हूँ।

मेरे मित्र श्री परमानन्दजी चूड़ीवाल, श्री रमणलालजी बिन्नानी भी मेरे लिए धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इन लेखों को पढ़ा और अपने सुझावों से मुझे अवगत कराया। दर्शन से सबधित लेख में श्री गौरीशकरजी मोहता का भी अवदान प्राप्त हुआ है अत ये भी धन्यवाद के पात्र हैं। गीतासार विवेचन शीर्षक लेख को पूज्य स्वामी रामसुखदासजी महाराज ने कृपा पूर्वक पढा। योग विषय पर नवीन चिंतन से अवगत कराया। सच कहा जाय तो यह लेख माला इन सारे महानुभावों का सम्मिलित प्रयास ही कहा जाय तो उचित होगा।

इस पुस्तक का प्राक्कथन राष्ट्रीय सग्रहालय के महानिदेशक एवम् कुलपति डा० रमेशचन्द्रजी शर्मा ने विद्वतापूर्ण लिखा है-मैं उनका आभारी हूँ। इस पुस्तक के चार निबध उनके पास नहीं पहुँच पाये थे अत उन्होंने छ निबधों के सबध में ही लिखा है।

जगत् गुरु शकराचार्य पूज्य स्वा ो स्वरूपानन्दजी महाराज ने इस पुस्तक के लोकार्पण की स्वीकृति प्रदान कर मेरे ऊपर महती कृपा की है। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

श्री सुरेन्द्र कुमारजी ढोटे का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने शीघ्र ही पुस्तक को मुद्रित करने में सहयोग प्रदान किया। मैं अपनी पत्नी श्रीमती कृष्णा देवी मूँधड़ा का भी आभारी हूँ जिसने मुझे अध्यात्म चिन्तन की ओर प्रेरित किया।

इन विविध एव गभीर विषयों के विवेचन में यत्र तत्र त्रुटियाँ होनी स्वाभाविक हैं। सुधी पाठकों द्वारा सुझावों का सादर स्वागत है।

— माधोदास मूँधड़ा

संक्षिप्त - सन्दर्भ

ऐ० उ०	—	ऐतरेयोपनिषद्
कठ० उ०	—	कठोपनिषद्
वृ ० उ०	—	वृहदारण्यक उपनिषद्
तै ० उ०	—	तैत्तिरीय उपनिषद्
छा० उ०	—	छाँदोग्य उपनिषद्
भा०	—	भागवत
भाग ०	—	
सू० स०	—	सूत संहिता
ना०भ०सू०	—	नारद भक्ति सूत्र
भ० गी०	—	भगवद् गीता
ब्र ० पु ०	—	ब्रह्माण्ड पुराण
ब्र ० सू ०	—	ब्रह्मसूत्र
केन ० उ ०	—	केनोपनिषद्
मुड ० उ ०	—	मुण्डकोपनिषद्
मा ० उ ०	—	माण्डूक्य उपनिषद्
म ० स्मृ ०	—	मनुस्मृति
म ० भा ०	—	महाभारत

अनुक्रमणिका

रसो वै सः

वेद : भारतीय दर्शन का अजस्र स्रोत

ससार में प्रत्येक व्यक्ति सुखी जीवन यापन करना चाहता है। मनुष्येतर प्राणियों में भी यही प्रवृत्ति रहती है। भेद इतना ही है कि अन्य जीव अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर जीवन सग्राम में लगा रहता है परन्तु मनुष्य विवेक प्रधान व्यक्ति होने के कारण प्रत्येक कार्य के अवसर पर अपनी विचार शक्ति का प्रयोग करता है। अत उसकी यह सहज जिज्ञासा होती है कि इस दृश्यमान जगत् के पीछे कोई निश्चित अदृश्य शक्ति होंगी जो इसका विधिवत सचालन करती है। वह जड़ और चेतन जगत को देखता है तो विचार करने लगता है कि इन दो भिन्न सत्ताओं का परस्पर क्या सबध है। अति विस्मित होकर वह और गहराई से अपने बारे में भी सोचने लगता है — कस्तव, कोऽह, कुत आयात" तुम कौन हो, मैं कौन हूँ, कहाँ से हम आए हैं? इस जगत का सच्चा स्वरूप क्या है, इसका कारण कौन है? इस ससार में हमारा क्या कर्तव्य है? जीवन को सुचारु रूप से विताने का कौन सा सुन्दर साधन मार्ग है। इन्हीं सब प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का ध्येय है। इस विराट व्यवस्था को समझने का प्रयास दर्शन शास्त्र है। दर्शन शब्द का अर्थ है दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" जिसके द्वारा देखा जाय वह दर्शन है। इसलिए दर्शन, परम तत्व या सत्य के स्वरूप को देखने की जिज्ञासा एव साधना का मार्ग प्रशस्त करता है। तर्क, वितर्क एव अनुभूति के आधार पर भारतीय मनीषी ऋषियों ने इन जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत किया एव परम तत्व के स्वरूप का साक्षात्कार किया। इस विराट तत्व का मानव कीं सीमित बुद्धि व मन थाह लेने में अक्षम हैं। विराट

की अनुभूति शब्दो की सीमित परिधि में अभिव्यक्त होती नही अत परम तत्व के स्वरूप को विभिन्न दृष्टिकोणो से प्रतिपादित किया गया है। यही कारण है कि विचारो की विविधता प्रतीत होती है। फिर भी भारतीय दृष्टि सर्वथा समग्रता का दर्शन करना चाहती है। अत सभी अगो को व्यष्टि के रूप में और उनके समन्वय को समष्टि के रूप मे जानना आवश्यक समझती है। इसलिए भारतीय दर्शन में भेद एव अभेद दोनो दृष्टियों का सम्यक् समन्वय हुआ है। ऋषि कहते है कि सत्य को देखना चाहिए मनन करना चाहिए एव इसे आत्मसात करना चाहिए — द्रष्टव्य मन्तव्य निदिध्यासितव्य। भारतीय दर्शन अत्यन्त गूढ एव जटिल हैं इसको समझना व आत्मसात् करना कठिन कार्य है, फिर भी इसकी विकास प्रक्रिया व समन्वयात्मक दृष्टि अत्यन्त महत्वपूर्ण व मागलिक है। वह मानव जीवन मे आत्यन्तिक दुख निवृत्ति एव निरतिशय आनन्द प्राप्त करने का साधन बताती है। परम तत्व के साक्षात्कार से मानव आनन्द प्राप्त करता है।

भारतीय दर्शन बौद्धिक स्तर पर तर्क वितर्क द्वारा परम सत्ता को समझने का प्रयास मात्र नही है वह तो आध्यात्मिक साधना द्वारा परम तत्व को आत्मसात् करने की साधना है इसलिए इसका मानव जीवन से गहरा सम्बन्ध है। ससार में सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है। सुख-दु ख भोगते हुए सामान्यतया जीवन प्रसार होता है। इन्हीं भोगो के मध्य वह जीवन के परम लक्ष्य को जानने व खोजने मे व्यग्र रहता है। इस व्यावहारिक जगत मे सूक्ष्म चिंतन करता हुआ वह अन्तर्मुख होकर परम लक्ष्य का चिंतन करता है जो परमानन्द की अनुभूति करना है। अत भारतीय दर्शन शास्त्र के तत्वो को समझने के लिए शुद्ध अन्त करण की आवश्यकता है। जिस परम तत्व को सैद्धान्तिक रूप में हम दर्शन मे प्राप्त करते है वह व्यावहारिक रूप मे जीवन में उतरना अनिवार्य है। इन दोनो की समन्विति मे मानव अपने परम उत्कर्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार मानव जीवन व दर्शन एक दूसरे से पूर्णतया सपृक्त हैं।

भारतीय दर्शन व धर्म का मूल स्रोत वेद हैं। वे इनकी जीवनी शक्ति हैं प्राण है। मानव जाति का सबसे प्राचीनतम साहित्य वेद ही हैं। भारतीय मनीषी अपनी दार्शनिक व धार्मिक कृतियो का ऐतिहासिक लेखा नही रखते थे। अत्यन्त प्राचीन काल से गुरु अपने शिष्यो को इन सहिताओ को कठस्थ करा देते थे और इस गुरु-शिष्य परपरा से अलिखित रूप से यह साहित्य अनादिकाल से चला आ रहा है। साधारणतया लोगों मे यह विश्वास है कि वेद अपौरुषेय हैं वे किसी पुरुष द्वारा रचे हुए नही है। स्वय भगवान ने ऋषियो को ज्ञान रूप मे प्रदान किए हैं या मत्र द्रष्टा ऋषियों ने अन्तर्दृष्टि द्वारा जो

अनुभूति की उसे अभिव्यजित किया है।

सारा वैदिक वाड्मय, भाषा काल और विषय की दृष्टि से तीन भाग में है सहिताएँ, ब्राहमण ग्रथ, आरण्यक — उपनिषद् ग्रथ।

सहिताएँ वैदिक मन्त्रो को सहिता कहते है। ये चार है ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इनमे सबसे प्राचीन ऋग्वेद हैं। सामवेद में 75 मन्त्रों को छोडकर सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। इसके सभी मन्त्र स्वर और लय मे पढ़े जाते है इसलिए यह गेय ग्रथ है। ये मन्त्र सोमयज्ञ के अनुष्ठानो के लिए सग्रहीत है। यजुर्वेद में मन्त्रो के अतिरिक्त मौलिक गद्य लेखन भी है। इसके मन्त्र यज्ञो एव कर्मकाण्ड की दृष्टि से सकलित है। इसे यज्ञों की प्रार्थना का वेद कहते हैं। अथर्व वेद का दीर्घ समय के पश्चात् प्रचलन हुआ। इसके विचार अधिकतर आदिम कालीन से लगते हैं। इसमें जनसाधारण पर प्रभाव डालने वाले जादू-टोने, प्रेम-माया एव असुरों को प्रसन्न करने वाले मन्त्र-तन्त्र सग्रहीत हैं।

ब्राह्मण ग्रथ सहिता ग्रथों के पश्चात् इन ग्रथों का सृजन हुआ । ये गद्य में लिखे हुए हैं। इन में यज्ञ का विधान प्रमुखतया निरूपित हुआ है। यज्ञ की पद्धति धीरे-धीरे जटिल होती गई। यह आवश्यक हो गया कि एक विशिष्ट वर्ग इनके अनुष्ठान को सपादित करे। ऐसे ब्राहमण शब्द का अर्थ है जो ब्रह्म की स्तुति सबधी विषय पर लिखा गया हो। लेकिन इस काल में वर्णाश्रम व्यवस्था का उदय हो चुका था और कर्मकाण्ड शास्त्रीय विद्वानों का विषय बन गया था। यज्ञ मे प्रतीकवादी क्रियाओं का सूत्रपात हुआ जो धीरे धीरे सहित्य बनती गईं।

आरण्यक एव उपनिषद्

ब्राहमण ग्रथों के विकास क्रम में आरण्यक ग्रथ आते है। ये सभवत उन ऋषियों द्वारा लिखे गए हैं जिन्होंने जीवन के अन्य कार्यों से मुक्त होकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया है। यज्ञ अनुष्ठान इनके लिए सभव नहीं था अत वे ध्यान और योग को प्रधानता देने लगे। इस प्रकार कर्मकाण्ड की जगह चिन्तन एवम् ज्ञान श्रेष्ठ समझा जाने लगा। अत आत्मज्ञान दार्शनिक मनन-जीवन का चरम लक्ष्य बनने लगा। आरण्यकों ने उपनिपदों के विकास की पृष्ठ भूमि बनाई। यहीं से दार्शनिक मनन व विन्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। उपनिषद् भारतीय दर्शन के महान् स्रोत के रूप में मान्य हुए। परवर्ती दार्शनिक चिन्तन उपनिपदों को आधार बनाकर विकसित होता है। उपनिषद् के ऋषियो की विचार धारा भारतीय दर्शन शास्त्र में अविरल रूप से प्रवहमान है। उपनिषद् को ही वेदान्त कहते हैं

क्योंकि ये वेद के अन्तिम भाग उपसहार के रूप में आते हैं। वेदान्त का अर्थ है वेदों का सारतत्व। वेदों में निश्चित सिद्धान्त उपनिषदो में विवेचित हैं। उपनिषद् तो अध्यात्म शास्त्र हैं जिनमें ऋषियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों में भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। इनमें अध्यात्म विषयक रहस्यों का विपुल विवेचन हुआ है।

ऋग् वेद के प्राय सभी मन्त्रों में देवताओं की स्तुति प्रधान विषय है। देवताओं को तीन श्रेणियो में विभक्त किया-पृथ्वी पर स्थित, आकाश में स्थित तथा स्वर्ग में स्थित। इन्द्र सर्वत्र दृष्टि रखने वाला नियमो को धारण करने वाला, शुभ कर्मों को करने वाला तथा सम्यक् रूप से प्रकाशित होने वाला तथा शासन करने वाला देव कहा गया है। सर्वज्ञ तरुण प्राणिमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा सतत फलों का दाता है। इन्द्र वीर योद्धाओं को युद्ध में विजय प्रदान करने वाला देवता है। वज्र के समान बलशाली बाहु वाले इन्द्र के हाथ में वज्र है।

वैदिक कवि वास्तव में प्रकृति का पुत्र था। प्रकृति का प्रत्येक रूप उसमें श्रद्धा और प्रेम जागृत करता था। देवताओ का प्रकृति के स्वरूप और शक्तियों के प्रतीक रूप में वर्णन हुआ है। इसलिए विभिन्न देवताओ के लिए एक ही प्रकार के विशेषणों का प्रयोग हुआ है और वे कुछ विशिष्ट गुणों के कारण एक दूसरे से भिन्न मालूम पड़ते हैं। अग्नि की तेजोमय किरणों को आकाश की ओर उठती हुई देखकर ऋषि कहता है अग्नि की तेजोमय प्रकाश-युक्त किरणें सर्व भेदी हैं। उनका सुन्दर मुख और नेत्र अत्यन्त मनोहर और नयनाभिराम है। जिस प्रकार प्रकाश की किरणें जल पर तैरती हैं उसी के समान अग्नि की किरणें निरतर प्रकाशित होती रहती हैं॥ ऋगवेद 1 143 3 । इसी प्रकार वायु की स्तुति में ऋषि कहता है यह कहाँ से उत्पन्न हुआ, कहाँ से इसका आगमन हुआ ? यह परमात्माओं का जीवन प्राण है। वसुधा का महान पुत्र है, ये वायु देव स्वेच्छा से जहाँ चाहते हैं विचरण करते हैं। इधर-उधर विचरण करते हुए उनकी पगध्वनि हमें सुनाई देती है परन्तु उनका स्वरूप कैसा है यह कोई नहीं जानता॥ ऋग् वेद 168 3 4

ऋगुवेद इस विश्व के एक शक्तिशाली नियन्ता से परिचित है। वह विभिन्न देवताओ को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अत वैदिक धर्म ही अद्वैत तत्व के ऊपर अवलबित है। नाना तत्व के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत में एकदम मौलिक तत्व है और इस निगूढ़तम अध्यात्म तत्व के अनुसधान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिक कालीन महर्षियों को ही है । ब्रह्म के सर्वव्यापी होने का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है । इसका सबसे सुन्दर दृष्टान्त पुरुष सूक्त तथा अदिति सूक्त में मिलता है—

पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भाव्यम्''

इस सूक्त में सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सुस्पष्ट है। इसी प्रकार अदिति के वर्णन के अवसर पर गौतम ऋषि का कहना है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है। अदिति ही समस्त देवता है, अदिति पचन निषादसहित चतुर्वर्ण है। जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब अदिति ही है।'' इस प्रकार अदिति की विश्व से अभिन्नता स्वीकार की गई है।

वैदिक ऋषियों ने इस जगत के कर्ता तथा नियामक मूल तत्व को अपनी सूक्ष्म तात्विक दृष्टि से ढूढ निकाला था। इस विषय में नासदीय सूक्त ऋषियों की आध्यात्मिक दृष्टि को पूर्णतया व्यक्त करने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूक्त ऋग्वेदीय अद्वैत भावना को अभिव्यक्त करता है। नासदीय सूक्त के ऋषि के सामने इस विश्व की उत्पत्ति की विषम पहेली विद्यमान थी। यह विश्व कहाँ से उत्पन्न हुआ इसके मूल मे कौन सा तत्व विद्यमान था। किस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सरल काम नहीं है। परन्तु इस सूक्त में इन्हीं प्रश्नों का उचित उत्तर अर्न्तदृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है। सूक्त का कथन है, आदिकाल में न तो स्वर्ग ही विद्यमान था और उससे परे, उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं।

यह नितान्त उदात्त एकत्व भावना है। ''तदेकम्'—वह एक। उसके लिग निर्धारण मे असमर्थ होकर वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र उस परमतत्व के लिए नपुसक लिग के तत्'' तथा 'सत्''शब्दों का प्रयोग किया है। वही इस जगत का मूल कारण है। उसी एको य अद्वितीयम्'' से चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पति हुई है। उसके समकक्ष अन्य वस्तु नही है। अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप को धारण करने वाले हैं। वह एक ही है, परन्तु कवि लोग उसे भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते है।

''एको सद् विप्रा बहुधा वदन्ति''। ऋगवेद

ब्राह्मण तथा आरण्यक की समीक्षा में हम उनके सिद्धान्तों का परिचय पाते हैं। ब्राह्मण काल सहिता तथा उपनिषद् काल का मध्यवर्ती युग है। इसमें वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा पर्याप्त रूप में हो गई थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने चारों वर्णों के साथ चारों आश्रमा के कर्तव्यों का वर्णन किया है। ब्राह्मण ग्रथों में कर्मकाण्ड का खूब विस्तार किया गया है। यज्ञ का महत्व मात्र देवताओं को प्रसन्न करना नहीं है। समस्त विश्व ही यज्ञ रूप है। यज्ञ के कारण देवता अपने-अपने अधिकारों का निर्वाह करते हैं। यज्ञ से समस्त विश्व

का कल्याण होता है। यज्ञ विष्णु का रूप बतलाया गया है। आरण्यकों में धीरे धीरे कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल के प्रति श्रद्धा क्षीण होने लगती है। कर्मकाण्ड से लोगों की अभिरुचि हटने लगी और ज्ञान मार्ग की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा। अत ज्ञान-कर्म का समन्वय उपनिषद् काल में आरम्भ हो जाता है।

उपनिषद् का अर्थ है अध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या। उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ी छानबीन की है। भारतीय भाष्यकार उपनिषदों में एक ही प्रकार के सिद्धान्तो की सत्ता स्वीकार करते है। उपनिषद् में अद्वैत श्रुति विशिष्टाद्वैत श्रुति तथा द्वैत श्रुतियों का विवेचन है। इसे कोई भी विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। ये सब श्रुतियाँ युक्तियुक्त है केवल दृष्टिकोण का ही भेद है । श्री शकराचार्य ने उपनिषदो पर भाष्य लिखकर उनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। श्री रामानुजाचार्य ने स्वय उपनिषदो पर भाष्य की रचना तो नहीं की परन्तु बाद मे उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैत के अनुसार व्याख्या लिखी। रामानुज की व्याख्यानुमार उपनिषद् मे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित है। श्री मध्वाचार्य ने कतिपय प्रधान उपनिषदो पर भाष्य लिखा है। उनकी दृष्टि मे ब्रह्म तथा आत्मा की भिन्नता (द्वैत) प्रतिपादित करती हैं। वास्तव मे उपनिषदों में समस्त दर्शनों का बीज निहित है। इहीं सूक्ष्म सूत्रो को ग्रहण कर परवर्ती दार्शनिको ने अपने-अपने सिद्धान्तो का निरूपण किया है तथा उन्हें स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित किया है। इन विचारो में सुव्यवस्था होने पर भी कही-कहीं विकीर्णता है। ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपेण इन ग्रथो में वर्णित हैं। अत इन उपदेशो मे सामजस्य का अभाव सा प्रतीत हो रहा है परन्तु उपनिषदो का तारतम्य उनके मूलभूत सिद्धान्तो में निहित है।

कठ उपनिषद् म एक रमणीय रूपक के द्वारा आत्म तत्व का वर्णन किया गया है - यह शरीर रथ है बुद्धि सारथि है मन लगाम है इन्द्रियाँ घोड़े है जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते है और आत्मा रथ का स्वामी है। आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की सर्वश्रेष्ठता वताई है। उसी प्रकार आत्मा के लिए ही शरीरादि हुए। वाह्य विषयों से आरम्भ कर विकास क्रम से विचार करने पर आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ ठहरता है।

माण्डूक्य उपनिषद् ने ब्रह्म या आत्मा को चतुष्पाद बतलाया है जिसमें आत्मा को तुरीय बतलाया गया है। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जाग्रत मे आत्मा वाह्य जगत् का अनुभव करता है स्वप्न मे यह अन्तर्मन अनुभव करता है सुषुप्ति या घोर निद्रा मे वह अपने केवल आनन्द स्वरूपता का अनुभव करता

है। ये तीनों दशाए आत्मा की अपर अवस्था है और इनमे आत्मा के अशमात्र का ही परिचय प्राप्त होता है। परन्तु पूर्ण आत्मा में उन सब गुणों का अभाव रहता है तो इन दशाओ मे उपलब्ध होते है। उस समय न तो वाह्य चेतना रहती है न अन्तश्चेतना और न दोनों का समिश्रण, न प्रज्ञा रहती है और न अप्रज्ञा। जहाँ समस्त वाह्य जगत शान्त रहता है, शान्त शिव एव अद्वैत यह चतुर्थ कहा जाता है, यही आत्मा है इसे ही जानना चाहिए। (माण्डूक्य उप०) इस आत्मा को तुरीय'' कहते है। वह जाग्रतादि अवस्थात्रय से पृथक् है। यह आत्मा कूटस्थ अधिकारी है और इसी कूटस्थ आत्मा की एकता निर्गुण व्रह्म से सर्वतोभावेन सिद्ध मानी जाती है। ओकार इसी आत्मा का द्योतक अक्षर है। ईशावास्योपनिषद् कहता है कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए त्याग की भावना से ही लौकिक पदार्थों का उपयोग करना चाहीए। अर्थात् अनासक्त भाव से जीवन-यापन करना आवश्यक है।

ब्रह्मतत्व

उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने सतत् परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक तत्व का अन्वेषण कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होने तीन पद्धतियो का प्रयोग किया है— आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा विनाश के कारणो की छानवीन करती हुई नित्य पदार्थ का विवेचन करती है। आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओ मे शक्ति सचार करने वाले एक परमात्मतत्व को खोजती है। आध्यात्मिक पद्धति म मानस-प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्य-कलापो के अवलोकन करने से उनके मूल-भूत आत्मतत्व का निरूपण किया जाता है। इन तीनों के उपयोग करने से उपनिषद् कालीन दार्शनिको ने जिस परमतत्व का अन्वेषण किया है उसे ब्रह्म ' कहते हैं।

उपनिषदो म ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन है –– सविशेष अथवा सगुण रूप निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन दोनों भावो में भेद वताने के अभिप्राय से निर्विशेष भाव को कही परव्रह्म कहा गया है और सविशेष भाव को कहीं अपर ब्रह्म तथा कहीं शब्द ब्रह्म कहा गया है। निर्विशेष ब्रह्म वह है जिसे किमी विशेषण या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता। इसलिए इस निर्विशेष भाव को निर्गुण निरुपाधि तथा निर्विकल्प आदि सज्ञाओ से विवेचित करते हैं। सविशेषभाव ठीक इमसे विपरीत होता है। इसमें गुण चिह्न लक्षण तथा विशेषणा की सत्ता रहती है जिनके द्वारा उसका उक्त

स्वरूप सहजता से हृदयगम किया जा सकता है। इन दोनों भावों को व्यक्त करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया है। एक निर्विकार लिग श्रुतियाँ एव दूसरा सविशेषलिग श्रुतियाँ, जैसे सर्वकर्मा, सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस इत्यादि।

इन वाक्यों मे एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। सविशेष ब्रह्म के लिए पुलिग शब्दों का प्रयोग किया गया है, यथा- सर्वकर्मा, सर्वरस आदि। परन्तु निर्विशेष ब्रह्म के लिए नपुसक लिग शब्दों का प्रयोग किया गया है। अस्थूलम् " आदि शब्दों के द्वारा पराब्रह्म का निर्देश किया जाता है। यही कारण है कि परब्रह्म तत् " पद के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। 'स " पद के द्वारा नही। निर्विशेष तथा सविशेष भाव विभेद के सूचक हैं, इनमें वस्तुगत विभेद का सर्वथा अभाव है। सगुण तथा निर्गुण , शब्द एक ही ब्रह्मतत्व के निर्देशक है, क्योकि ब्रह्मतत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों ने एक ही मन्त्र में उभयलिग भावक शब्दों का प्रयोग किया है। मुण्डक उपनिषद में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है

यत् तद् अद्रेश्यमग्राह्यम् अगोत्रम् ,अचक्षु श्रोतम् ,तद् अपाणिपादम्" यह निर्विशेष ब्रह्म का विवेचन है। नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा । इन पुलिग पदो में सविशेष ब्रह्म का निरूपण किया गया है।1/1/6

इस प्रकार जब एक ही मत्र उभयविध पदो के द्वारा ब्रह्मतत्व का प्रतिपादन कर रहा है, तब निश्चय है कि किसी भी प्रकार का वस्तुगत भेद नही है। भाष्यकारो मे इन उभयलिग वाक्यो को लेकर गहरा मतभेद है। आचार्य शकर श्रुति को निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादक मानते हैं पर आचार्य रामानुज उसे सगुण ब्रह्म का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं, परन्तु परम तत्व एक ही है, उसे सगुण कहा जाय या निर्गुण।

सगुण ब्रह्म सविशेष

अपर या सगुण ब्रह्म का परिचय उपनिषद् में दो प्रकार से दिया गया है। किसी वस्तु के परिचय के लिए उसके लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण दो प्रकार का होता है-तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण। इसके द्वारा वस्तु के शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। वस्तु के तात्विक रूप की उपलब्धि होती है वह स्वरूप लक्षण कहलाता है। तटस्थ लक्षण के द्वारा वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है। सगुण ब्रह्म के दोनो लक्षण उपनिषदों मे प्राप्त होते हैं।

निर्गुण-निर्विशेष

ब्रह्म का जो निर्विशेष या निर्गुण भाव है उसे किसी विशेषण से विशेषित नहीं किया जा सकता। वह तो परब्रह्म, निर्विकल्प तथा निरुपाधि है। वह अनिर्देश्य है, उसका किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। इसी कारण वाप्कलि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के विषय में बार- बार पूछे जाने पर बाध्य होकर ऋषि ने मौन धारण कर ही उनके प्रश्न का उत्तर दिया। गुणो के अभाव के कारण ब्रह्म का भावात्मक वर्णन नहीं हो सकता। उसे हम निपेध द्वारा ही जान सकते हैं, जैसे वह ऐसा नही है''। श्रुति सदा नेति , नेति यह नहीं, यह नहीं'' कहकर उसका परिचय देती है।

इसलिए पख्रह्म के वर्णन में श्रुतिवाक्यों मे 'न'' अव्यय का इतना अधिक प्रयोग होता है। बृह०। 3/6/6 के अनुसार वह अस्थूल, अनणु अहस्व तथा अदीर्घ है। कठ उ०। 1/3/15। उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप अव्यय, अरस, अगन्धवत्, अनादि तथा अनन्त बतलाया है।

बृहदारण्यक उपनिपद्। 3/8/8। में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते समय अक्षर'' के स्वरूप का विवेचन करते हैं हे गार्गी, वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है, ह्स्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, रक्त नहीं है, न चिकना है, वह छाया से भिन्न है और अन्धकार से पृथक् है, वायु तथा आकाश से अलग है असग है, रस तथा गन्ध से विहीन है, न चक्षु उसे ग्रहण कर सकते हैं, न श्रोत्र से, मन तथा वाणी का वह विषय नहीं है, वह तेज से रहित है, प्राण तथा मुख से उसका सबध नहीं है वह परिणाम-रहित है, न अन्दर है, न बाहर है, वह कुछ नहीं खाता, न उसे कोई खा सकता है।''

पख्रह्म देश, काल तथा निमित्त रूपी उपाधियों से रहित है। वह देशातीत कालातीत तथा निमित्तातीत है। प्रमाणातीत होने से वह सदा अप्रमेय है, चैतन्यात्मक होने से ब्रह्म विषय कथमपि नहीं हो सकता। ब्रह्म को अरस'' आदि कहने का तात्पर्य यही है कि वह शब्द, स्पर्शादि के समान विषय नहीं हो सकता। वह अगाध प्रशान्त समुद्र के समान कहा जा सकता है। इस जगत के समस्त प्रकाश का हेतु ब्रह्म ही है। वहाँ न तो सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा, न तारे। ये विजलियाँ भी नहीं चमकतीं। यह अग्नि कहाँ से चमक सकती है ? उसी के चमकने के पीछे सब चीजें चमकती हैं, उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है''। कठ०उप०5/15

ब्रह्म ही उस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है। मुण्डक उपनिपद्

का कहना कि जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जाला तानता है तथा उसे अपने शरीर मे फिर समेट लेता है जिस प्रकार पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं जैसे पुरुष से केश उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस नित्य ब्रह्म (अक्षर) से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है। अग्नि से जल जल से पृथिवी, पृथिवी से समस्त जीवजन्तुमय जगत्। इस जगत् के लय होने का क्रम इससे ठीक विपरीत है।

उपनिषदों का चरम लक्ष्य है आत्मा की अनुभूति। ओंकार की उपासना इसका प्रधानतम साधन है। ओंकार के निरन्तर ध्यान करने से आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है। सुख दो प्रकार के होते है अल्प सुख तथा वृहद् सुख। सासारिक भोगों में उपलब्ध सुख अल्प श्रेणी का है। वास्तव में वृहद् सुख उस भूमा ' या आत्मानुभूति में ही है जो सर्वत्र विद्यमान है। वह ऊपर है तथा नीचे है आगे है तथा पीछे है, दक्षिण की ओर है तथा उत्तर की ओर है। परम तत्व की ही सज्ञा भूमा" है। जहाँ पर न तो दूसरे को देखता है न दूसरे को सुनता है न दूसरे को जानता है वह है भूमा । भूमा ही अमृत है - जो अल्प है वह मर्त्य है अनित्य है -

यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति । यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा। यो वै तदमृतम् अथ यदल्प तन्मर्त्यम्।"

छा०8/22

इस आत्मा का साक्षात्कार होने पर वह स्व राज्य ' प्राप्त कर लेता है। वह अपने आत्मा से प्रेम करता है (आत्मरति) अपने आत्मा से क्रीडा करता है (आत्मक्रीड), अपने आत्मा से सग का अनुभव करता है (आत्ममिथुन) तथा अपने आत्मा मे निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है (आत्मानन्द)। आत्मा तो आनन्द रूप है अत स्वोपलब्धि का अर्थ यही है कि वह अपने आनन्दमय रूप मे विहार करता है परन्तु क्या उस आनन्द की मात्रा लौकिक दृष्टान्तो से नहीं बतलाई जा सकती ? बृहदारण्यक (4/3/21) ने एक लौकिक उदाहरण से उसके सुख का किंचित आभास सा दिया है। उसका कहना है कि जिस प्रकार प्रिया से आलिगन किये जाने पर पुरुष न तो बाहरी को जानता है और न भीतरी वस्तु को उसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा परमात्मा से आलिगन किये जाने पर पुरुष न तो वाहय को जानता है न अन्तर को। उस समय उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती है क्योकि आत्मा की उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नही रह जाती।

लौकिक भाषा मे उस अचिन्त्य परमात्म-तत्व की अनुभूति का वर्णन नहीं किया

जा सकता। ये समस्त उपाय व्यर्थ है। आत्मवेत्ता ही उसे जानता है, समझता है पर उस अवस्था में पहुचते ही उसकी वाणी का व्यापार बन्द हो जाता है। "यत्र वावा निवर्तन्ते", वह मूक बन जाता है। कौन कहे और सुने? उस समय बस शिव केवलोऽहम्" की अपूर्व उपलब्धि होती है। आत्मा निरतिशय आनन्द का अनुभव करने लगता है। यह स्थिति स्व अनुभूति गम्य हैं, अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है, परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक है। आत्मा साक्षात्कार या वैदिक तत्वज्ञान का हृदय है। इसे हम उपनिपदो का रहस्यवाद " भी कह सकते है। उपनिषद् के अन्य सिद्धान्त इसके साध्यमात्र है। यह रहस्यवाद श्रोत दर्शन ' का सार है रहस्यों का रहस्य है तथा उपनिपदो का उपनिपद है।

वेदो मे उस परम तत्व का दर्शन प्रस्तुत हुआ है जो मानव मात्र को असद् से सद् की ओर, अंधेरे से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है। इस परम तत्व के साक्षात्कार से परमानन्द की अनुभूति प्राप्त होती है जिससे व्यक्ति अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह अमृत का रसास्वादन करता है, अमृत अश्नुते "। ईश उप० 311। अमरत्व प्राप्त कर लेता है यही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है - जिसे प्राप्त कर मानव भवाभव या पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है यही मुक्ति या मोक्ष है - यही निरतिपय आनन्द की प्राप्ति है।

वैदिक ऋषि परम तत्व के द्रष्टा थे। उनकी अनुभूतियो मे भारतीय दर्शन और चिन्तन बीज रूप में अवस्थित है जो अवान्तर काल में विभिन्न दार्शनिक चितन धाराओं के रूप मे व्यक्त होता है । यह चितन तर्क बुद्धि एवम् अन्तर्मन से समन्वित होकर पडदर्शनों के रूप मे विकसित होता है। इन छहो दर्शनो मे कोई मूलभूत विभेद नही है। वे तो वास्तव र्म एक दूसरे के पूरक हैं एव तत्व चितन के सोपान है। वे दो-दो के तीन विभाग में विभक्त हैं। प्रथम विभाग है न्याय वैशेषिक दूसरा सारव्य-योग व तीसरा पूर्व मीमामा उत्तर मीमासा (वेदान्त)। इनमे न्याय-योग एव पूर्व मीमासा दर्शन के व्यवहार पक्ष से सबधित है। वैशेपिक सारव्य एव वेदान्त सिद्धान्त पक्ष को निरूपित करते हैं। न्याय तो तर्क शास्त्र है - जो सभी दर्शनों के चिन्तन का आधार है। योग साधना- शास्त्र है जिसम चित की वृत्तियों को नियत्रण कर अर्न्तमुखी बनाने का विज्ञान है। योग साधना को भारत के सभी दर्शनों ने अपने साधना पथ में स्वीकार किया है। पूर्व-मीमासा वेदों के अपौरुपेय तत्व की महता को उजागर करता एव यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्यवस्था प्रस्तुत करता है जो धर्माचरण का आधार बन जाता है। वैशेपिक एव न्याय की दार्शनिक मान्यता एक ही है। यह पडदर्शन

नियम बना लिए और निर्णय किया कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय ? उसे ऐसा बोध हुआ कि जो कार्य अपने लिए प्रतिकूल है वह सबके लिए प्रतिकूल सिद्ध होगा। अत ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए जो दूसरों को दु ख पहुँचाए। ऐसे नियम व्यवस्थित रूप में नियोजित होकर आज की भाषा मे आचार'' कहलाते है।

ऋषियों ने यह नियम बनाया - "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्'' यही प्रधानतया आचार— ETHICS का स्रोत हुआ। दूसरी ओर मनुष्य ने अपने चारों ओर विराट प्रकृति की वैभव एव चमत्कृत करने वाली लीलाओं का दर्शन किया जैसे - वर्षा तूफान तारागण नीहारिकाएँ, सूर्य-चन्द्रमा, विजली इत्यादि। इन मनोहर दृश्यों को देखकर वह आश्चर्यचकित हुआ। साथ ही सृष्टि में सहार शक्तियों को देखकर वह भयभीत भी हुआ। इन सब में उसे दैवी शक्तियों का दिग्दर्शन हुआ और वह जीवन की जटिल समस्याओं पर विचार करने लगा। जीवन और मृत्यु का क्या रहस्य है ? इस अनन्त प्रकृति के पीछे अवश्य कोई न कोई विराट दैवी शक्ति है, जो इस समस्त सृष्टि का सचालन करती है। ये सब विचार उसके मन मे बार-बार आलोड़ित होते रहते। क्रमश मनुष्य ज्यों-ज्यो सभ्यता और सस्कृति की दिशा में अग्रसर होता गया तो कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों ने इस रहस्य को समझने का निरन्तर प्रयास किया। इस विचार प्रक्रिया ने दर्शन को जन्म दिया।

अत हम देखते हैं कि आचार धर्म मय हुआ और चितन दर्शन मय। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय में धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते-चलते एक हो जाते हैं। इन दैवी शक्तियों में हम किस देव की उपासना करें' यह प्रश्न बार-बार उनके मानस में उठता था कस्मै देवाय हविषा विधेम मनीषियों ने अन्ततोगत्वा निर्णय किया कि यह सारी सृष्टि एक ही तत्व से उद्‌भूत है। वह तत्व ही स्वय इस विराट सृष्टि या प्रकृति के रूप मे उद्‌भासित है। इस परातत्व को ऋषियों ने ब्रह्म' कहा, जो निखिल ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। यह ब्रह्माण्ड वास्तव में उसका ही विराट स्वरूप है। इस परातत्व की सत्ता में धर्म प्रतिष्ठित है। धर्म विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा''। अत धर्म एक सार्वभौम सत्य है। वह किसी देश या व्यक्ति , जाति या वर्ग तक सीमित नही है। मानव मात्र उसका अधिकारी है। इस धर्म को सनातन धर्म कहा है, क्योकि यह अनादि और अनन्त है। वह किसी व्यक्ति या ग्रन्थ द्वारा प्रवर्तित नहीं है। वह विश्व का अनुभूत सत्य है जिसका मानव मात्र अनुभव कर सकता है।

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जाति के पहले धर्म विद्यमान नहीं था ऐसा मानने पर धर्म को अनादि एवम् वेदों को अपौरुषेय मानने की बात युक्तिसगत नहीं

प्रतीत होती। परन्तु इस सबध मे निम्नलिखित उदाहरण से बात सुस्पष्ट हो जायेगी।

सारी प्रकृति अपनी नियत गणित से गतिशील है। गणित का जन्म तो गणितज्ञ के पहले हो गया था। जेम्स जिन कहते हैं 'ईश्वर स्वय गणितज्ञ है''। इसी तरह साहित्य, विज्ञान शिल्प आदि सभी अव्यक्त रूप से प्रकृति मे अवस्थित हैं और विशिष्ट काल-क्षण में अभिव्यक्त हो जाते है। कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान और धर्म ता चिरन्तन विद्यमान रहते हैं - सृष्टि के पहले और प्रलय क बाद भी। वेदों की ऋचाओं एवम् धर्म की मान्यताओ की चिन्तको ने क्रमश अनुभूति की और फिर अभिव्यक्ति दी। क्रमश ज्यो-ज्यों सभ्यता और सस्कृति का विकास होता रहा धर्म की अभिव्यक्ति और सुस्पष्ट होने लगी। इस प्रकार धर्म कभी अव्यक्त और कभी व्यक्त रूप में सनातन काल स चलता आ रहा है।

वैदिक काल मे ऋषिया ने धर्म की दैविक सत्ता का ध्यान एवम् चिन्तन में अनुभव किया , उसके लौकिक एवम् आध्यात्मिक आयामा का दर्शन किया। ऋग्वेद में सर्व प्रथम धर्म की चर्चा करते हुए मनीषियों न धर्म का जीवन में धारण करने का आह्वान किया 'अतो धर्माणि धारयन्''। ऋग्वेद 1/22/77।

ईश उपनिषद् ने सूर्य की प्रार्थना करते हुए कहा कि ''आप अपने स्वर्णिम आवरण को हटा दे ताकि हम सत्य-धर्म का दर्शन कर सके'' सत्य धर्माय दृष्टये''। अत धर्म ही परम सत्य है। वैदिक ऋषियों ने धर्म का परम सत्य के रूप में दर्शन किया है एवम् बड़े ही व्यवस्थित रूप से धर्म को परिभाषित किया है। धर्म के विशद व्यापक स्वरूप का दर्शन हमे श्रुति , स्मृति एवम् पुराणो में होता है। हमारे मत्र-द्रष्टा ऋषियो के स्वत स्फूर्त अनुभूतियो के सकलन श्रुति' नाम से अभिहित किया है। ये स्वत प्रमाण तत्कालीन समाज में निरूपित है। इनका जो व्यावहारिक रूप आचार सबधी रचनाओं में नियोजित है जिसे स्मृति कहते है। कथाओं के माध्यम मे इन्ही का विवेचन पुराणों मे है।

इस प्रकार श्रुति एवम् स्मृति दोनो ही धर्म के मार्ग को प्रतिपादित करते हैं जिसका आचरण मानव मात्र के लिए हितकर एव मगलमय है। धर्म ही मानव का सरक्षण करता है। 'धर्मो रक्षति रक्षित ' । मनुस्मृति-7/5। धर्म मानव को अवनति के मार्ग से बचाकर उसक लिए उन्नति का पथ प्रशस्त करता है। मनु ने धर्म क दश लक्षण बताए हैं। वे है - धृति या धैर्य, क्षमा मनोनिग्रह चारी न करना शुद्ध व्यवहार , इन्द्रियों का सयम धर्मबुद्धि विद्या सत्य और क्रोध न करना।

धृति क्षमा दमोस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम्।। ।। मनुस्मृति 6/62 ।

ऋषियों ने धर्म - चिन्तन का विस्तार किया और उसके विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए अन्य परिभाषाएँ प्रदान कीं। वाल्मीकि रामायण में सत्य को परम धर्म बतलाया।

आह सत्य परम धर्मवियोजना''।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में धर्म की व्यापक परिभाषा की ''यतोभ्युदय नि श्रेयससिद्धि स धर्म'' अर्थात् जिसके आचरण से लौकिक उन्नति और अध्यात्म सिद्धि प्राप्त हो उसे धर्म कहते हैं। धृ'' धातु से बनने वाले इस शब्द का अर्थ है धारण करना। अत हम देखते हैं कि सब को धारण करने वाला, जो नियम है वही धर्म है। ''धारणायुक्त स धर्म इत्युदाहृत। अत वैदिक काल में जिसे 'ऋत'' या सृष्टि का अखण्ड नियम कहते थे उसके लिए धर्म शब्द का प्रयोग होने लगा। इस परिवर्तनशील ससार में ऋत धर्म ही स्थिर और अचल है- धर्म एकोर्महि निश्चल'। इसलिए धर्म का आचरण ही हमारे जीवन एवम् समाज में स्थिरता प्रदान कर सकता है। हमारे शास्त्रों एव पुराणों में धर्म के विभिन्न अर्थो का प्रयोग करते हुए उसके विस्तार की ओर इगित किया गया है। धर्म एक सार्वभौम तथ्य है इसलिए वह किसी देश या व्यक्ति का न होकर मानव मात्र के लिए है। वह किसी भी देश या काल से बाधित नहीं है। वह सनातन है एव उसकी सत्ता सर्वत्र एव सर्वव्यापी है।

भारतीय वाङ्मय में इस शब्द का अनेक रूपों में व्यवहार हुआ है और विभिन्न स्थलों मे उसके अनेक रूप परिलक्षित होते हैं। धर्म शब्द के अन्तराल में धर्म के सभी भाव समा जाते हैं और धर्म' मानव धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। कर्तव्यो धर्म सचय''। अत जीवन में धर्मानुकूल आचरण करना चाहिए।

भारतीय वाङ्मय में धर्म के कई रूप हमारे समक्ष उभर कर आते हैं।

मनुष्य के लिये जो कर्तव्य या आचरणीय कहा गया है, वही धर्म है। स्मृति से धर्म का यह अर्थ प्राप्त होता है।'

पुराण-शास्त्र में अनेक स्थलों में धर्म' शब्द अनेक अर्थों में दिया गया है - मनोवृत्तियों को धर्म कहा गया है - जैसे - दया - धर्म, सत्य-धर्म, अहिंसा परम धर्म क्रोध अपकृष्ट धर्म इत्यादि।

"इन्द्रियों के कार्य भी धर्म नाम से कथित होते हैं - जैसे - चक्षु का धर्म है दर्शन, नासिका का धर्म है आघ्राण, मनका धर्म है चिन्तन आदि।

कर्तव्य बोध का नाम भी धर्म है-जैसे पिता का धर्म, पुत्र का धर्म, पत्नी का धर्म इत्यादि।

गुणों की क्रिया को भी धर्म कहते है- जैसे शीत का धर्म है सकोचन, ताप का धर्म है सम्प्रसारण इत्यादि।

वृत्यनुकूल कार्य को भी धर्म कहते हैं - याजक का धर्म, कृषक का धर्म, व्यवसायी का धर्म इत्यादि। कतिपय विशिष्ट व्यापारों की समष्टि को भी धम कहा जाता है।- जैसे जागतिक धर्म, लौकिक धर्म, सामाजिक धर्म, दैहिक धर्म और मानसिक धर्म आदि।

देश काल और जाति से भी धर्म जुडा हुआ है जैसे देश, काल जाति के प्रति व्यक्ति के एव समूह के कर्तव्य धम के द्योतक हैं। गीता में स्वधर्म का उल्लेख किया है - जो धर्म व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल हो वह स्वधर्म है जैस -ब्राह्मण के लिए पठन-पाठन आदि।

धर्म जीवन को एक सूत्र में बाँधकर समग्रता प्रदान करता है। वह जीवन के लिए सही दिशा निर्देश करता है। यही कारण है कि धम हमारे समस्त जीवन का सस्पर्श करता है। विश्व के समस्त जीव, पदार्थ, यहाँ तककि दैविक सत्ताएँ भी धर्म से बधी हैं।

उक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि मानव विकास के साथ-साथ धर्म के अनेक आयाम उजागर हुए जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में सहायक हुए। इसलिए जब हम चिन्तन की दृष्टि से विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो अधिकाश धर्मों के तत्वज्ञान मूलक सत्यों एव सिद्धान्तों मे नगण्य सा अन्तर पाया जाता है - क्योंकि मानवीय चेतना विश्व चेतना से सपृक्त है।

कभी कभी धर्म के आवरण में देश काल और परिस्थितिवश कुछ ऐसा काय करना पडता है जो मूलभूत सिद्धान्तों के विपरीत दिखाई पडता है फिर भी वे 'अधर्म की सज्ञा' में नहीं माने जायेंगे। किन्तु यह छूट अपवाद क रूप में ही लेनी चाहिए। इसमे लक्ष्य के औचित्य एव कर्ता के मन के हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सत्य के विष में कहा गया है कि सत्य से ऊँचा और कोई धर्म नहीं है अर्थात् सत्य ही परब्रह्म है। उपनिषद् में सत्य को ही प्रथम स्थान दिया गया है। ' सत्यम् वद। धर्मम् चर' ।

कल्पना कीजिये कि चोरों द्वारा पीछा किए जाने पर कुछ भयभीत लोग किसी

व्यक्ति की जानकारी मे कहाँ छिप जाय। यदि उस व्यक्ति के हाथ से तलवार लेकर चोर पूछे कि सब लोग कहाँ गए?" तो वह व्यक्ति निरपराध लोगो की हत्या रोकने के लिए कह सकता है कि मै इस सबध में कुछ भी नहीं जानता' । उसके सत्य बोलने से निर्दोष लोगों की निर्मम हत्या हो जाती। अत ऐसी स्थिति मे सत्य न बोलना धर्म सगत हो जाता है क्योकि इसी मे मानव हित निहित है।

नारदजी से शुकजी कहते है

सत्यस्य वचन श्रेय सत्यादपिहित वदेत्।
यद्भूतहित अत्यन्त स्तत्सत्य मत मम।।

अर्थात् सच बोलना तो अच्छा है परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियो का हित हो। क्योकि जिससे सब प्राणियो का अत्यन्त हित होता है वही हमारे मत मे सत्य है। '

श्रुतियो ने अहिंसा को परमो धर्म ' माना है। परिस्थितियो के अनुसार इसमे भी अपवाद होता है। वहाँ हम हिंसा को अधर्म नही मानते। शाति पर्व मे भीष्म पितामह श्रीकृष्ण से कहते है कि यद्यपि गुरु पूजनीय है तथापि उसको भी नीति की मर्यादा का पालन करना चाहिये अन्यथा वह भी वध्य है।

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापाञ्क्षत्रि च सहि धर्मवित्।।

अर्थात् हे केशव। जो गुरु मर्यादा नीति अथवा शिष्टाचार का भग करता है और जो लोभी या पापी है उसे लड़ाई मे मारने वाला क्षत्रिय ही धर्मज्ञ कहलाता है। आतताई के आक्रान्तों से जब वृद्ध बाल व स्त्रियाँ असहाय अवस्था में पहुँच जाती हैं तो उनकी रक्षार्थ आततायियो को मारना अपराध नहीं है। इसलिए सत्य अहिसा आदि परम धर्म है किन्तु विशेष शुभ के लिये इनकी अवहेलना करना भी अधर्म नही होगा।

मानव चेतना त्रिगुणात्मक सत् रज तम प्रकृति से बधी हुई है। इसलिए मानवीय वृत्तियों में तो तामसी आसुरी वृत्तियाँ भी हैं। धर्म उन्हें मिटाकर मनुष्य को राजसी प्रवृत्ति में सम्स्थापित करता है और उसकी विकास प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए राजसी वृत्तियों को सात्विकता से सम्क्रांति कर उसे सुसम्कृत बनाता है। अत धर्म का व्यापक प्रभाव समस्त मानवीय चेतना पर परिलक्षित है। सुसस्कृत मानवीय चेतना एव तत्प्रेरित कर्म भी

धर्म और धर्माचरण है।

धर्म और सम्प्रदाय सारे विश्व के लिए धर्म तो एक ही होता है भले ही उसे मानव सभ्यता कहें, सदाचार का तत्व कहें या शिष्टाचार के सूत्र कहे अथवा मानवता के मूल तत्व कहें। धर्म की व्यापकता के साथ उसके अन्तर्गत अनेक पथ आते है विविधाश्च पथा '। ये पथ अवतारी पुरुषों द्वारा सप्रदायों के रूप में सस्थापित हाते हैं। उनम देश काल और समाज के अनुसार कार्य एवम् विचार प्रणाली की विशेषता होती है। सम्प्रदाय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है —

गुरु परम्परा से जो सम्यक् रूप से चला आ रहा है और गुरु जिनमें शिष्य को सम्यक् रूप से मत्र, आराध्य, आराधना-पद्धति तथा आचार-पद्धति प्रदान करता है उसका नाम सम्प्रदाय है।' सम्प्रदाय का अर्थ सीधे शब्दों में है - धर्म का पथ - विशेष। सम्प्रदाय अनुयायी को एक पथ प्रदान करता है जिस पर चलकर वह धर्म के द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके। एक ग्रन्थ, एक उपासना, एक आचार-पद्धति जहाँ भी प्रचलित है और उसे ही कल्याण का एक मात्र मार्ग बताया गया है - वह सम्प्रदाय है।''

सम्प्रदाय को सुनियोजित रूप से चलाने के लिए व्यक्ति में श्रद्धा एवम् निष्ठा आवश्यक है। वह मानता है कि मेरा मार्ग ठीक है - मेरा मत्र ग्रथ गुरु उपासना आचार आदि त्रुटिरहित है और यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।'

यह आवश्यक है कि इस निष्कर्ष के साथ दूसरे मार्गों की आचार पद्धतियों से द्वेष अथवा घृणा नहीं होनी चाहिए। दूसरे सम्प्रदाय के मानने वाले अनुयायी भ्रान्त ही हैं - यह धारणा अज्ञानमूलक है। जो धर्म के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं - उन्हे कोई न कोई पथ तो अपनाना ही होगा। लक्ष्य तक जाना है तो एक रास्ता पकड़कर जाना ही होगा। इस प्रकार की दृढ निष्ठा अपने सम्प्रदाय मे होनी चाहिये। सम्प्रदाय के बिना तो साधना प्रबल नहीं बनती। मार्ग के बिना तो लक्ष्य की ओर गति नहीं है। धर्म तो भूमि है। उस पर नाना पथ हैं। सम्प्रदाय ही पथ है - वह भूमि नही है। वे बनते बदलते और मिटते रहते हैं। जब किसी सम्प्रदाय म कुछ अनुयायियों की धर्मान्धता के कारण - त्रुटियाँ आ जाती हैं तब महापुरुष नूतन पथ का निर्माण करते रहे हैं और करते रहेंगे। भूमि तो धर्म ही है। उसके बदलने या नष्ट होने का कोई कारण नही है। वह तो नित्य है - सत्य है। यही कारण है भारतीय धर्म-सम्प्रदायों के दार्शनिक सत, आचार्य सब एक ही धर्म के अनुयायी हैं। पर सम्प्रदाय में भी प्रतिस्पर्धा एवम् रागद्वेष के कारण

परस्पर विरोध उत्पन्न होता है। कुछ सम्प्रदायों में तो जबरदस्ती धर्म परिवर्तन कराने को पुण्य कार्य माना गया है लेकिन यह अत्यन्त क्रूर एवम् पैशाचिक कृत्य है जिसने निरीह लोगों को रक्तपात कर इतिहास को कलंकित किया है। ऐसे अमानुषी कार्य धर्महीनता के द्योतक हैं।

अत हमे विवेक के साथ सम्प्रदाय के सतस्वरूप को और उसके विद्रूप को सही रूप में समझना चाहिए। हमारा विश्वास है - सम्प्रदाय व्यक्ति की चेतना को विकसित करता है और धर्म को व्यापक स्वरूप में हृदयगम कराने में सहायक होता है। साम्प्रदायिक भावनाएँ मानो विविध सरिताओ के रूप में अपनी ऋजुता से धर्म के महासागर की ओर सदैव प्रवाहित होती रहे इसी म उनकी पूर्णता है। धर्म तो एक विशाल जीवन वृक्ष है जिसमें सम्प्रदाय रूपी कोंपल में कई कलियाँ निरन्तर पल्लवित एवम् पुष्पित होती रहती हैं। उनके सौरभ से धर्म और भी अधिक आह्लादित हो जाता है - एवम् इसे यदि वट वृक्ष की तरह मानें तो इसकी सनातनता स्पष्ट है - नई-नई जड़ें एक ही वृक्ष से नव वृक्ष का निर्माण करती रहती है।

धर्म और मनोविज्ञान धर्म की यात्रा अन्तर्मुखी है पर उसकी अभिव्यक्ति वाह्य आचरण में व्यक्त होती है। व्यक्ति जितना धार्मिक होगा उतना ही उन्नत एव लोकोपकारी होगा। उसकी सोचने और कार्य करने की पद्धति अन्य लोगों से कुछ भिन्न होगी। जहाँ सामान्य लोगों की प्रवृत्ति निजी स्वार्थ परस्पर प्रतिस्पर्धा वित्तैषणा लोकैषणा आदि से प्रभावित होती है वहा धर्म परायण लोगो की प्रवृत्ति सत्य निष्ठा लोक सग्रह एव नैतिक जीवन मे समर्पित होगी। वे कष्ट पाकर भी लोगो की सेवा में व्यस्त रहते है। त्यागमय जीवन उन्हें आनन्द प्रदान करता है तेन त्यक्तेन भुजीथ " उनका मानसिक चिन्तन व समस्त कार्य लोक-मगल मे ही रमता रहता है। अत धर्मपरायण लोगो का जीवन मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय बन जाता है।

मनोविज्ञान मूलत मन का अध्ययन करता है। यहाँ मन ही मन का विश्लेषण करता है और उसकी गतिविधियों को समझाने का प्रयास करता है। सभी सकल्प विकल्प मन मे ही उठते है। धर्म हमें विवेक प्रदान करता है जिसके माध्यम से सद् सकल्पों को हम व्यवहार में लाते हैं और असद् सकल्पो का परित्याग कर देते है। मन में निहित विकारों- काम, क्रोध लोभ मोह आदि को हम धार्मिक चिन्तन द्वारा निरस्त करते हैं। धर्म हमें स्थूल देह की वासनाओं से मुक्त कर सूक्ष्म आध्यात्मिक चिन्तन की ओर उन्मुख करता है। अत हम देखते हैं कि धर्म और मनोविज्ञान का अभिन्न सम्बन्ध है। यही कारण

है कि धर्म एवम् धार्मिक प्रवृत्ति का विपुल मनोवैज्ञानिक चिन्तन हुआ है।

मनोवैज्ञानिक फ्रायड का मनोविश्लेषण मूलत स्थूल देह पर केन्द्रित था। अत वे हर धार्मिक प्रवृत्ति को दमित वासनाओ का परिणाम मानते हैं। ईश्वर को भी वे मानव मन मे दबी हुई कुण्ठाओं की ही परिणति मानते है जिसे वे एक प्रकार का "इडिपस कोम्प्लेक्स " कहते है। फ्रायड की वासनापरक मान्यताओं को उनके शिष्यो ने उनके जीवन काल मे ही असगत सिद्ध कर दिया था। विशेष रूप से सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युग ने। युग धार्मिक भावना को वासनाओं का परिणाम नहीं मानकर उच्चस्तरीय मानवीय विकास का सोपान मानते हैं। धर्म तो Collective Unconscious परम अव्यक्त का साक्षात्कार है। धार्मिक अनुभूति की सत्ता नकारी नही जा सकती। युग मानते है धर्म एक अमूल्य निधि है। अक्षय आनन्द का स्रोत है जो इसका अनुभव कर लेते हैं वे आनन्द विभोर हो जाते है। युग मानते है कि भारतीय मनीषियो ने सर्व प्रथम उपनिषदो एव योग में मनोवैज्ञानिक तथ्य उजागर किए है। विलियम जेम्स ने विश्व के प्रमुख सतो एव धार्मिक विभूतियो के जीवन का अध्ययन किया और उन्होंने यह देखा कि विश्व के सभी सत आनन्दमयी सत्ता से अभिभूत है। समस्त मतो की अनुभूति में ऐक्य परिलक्षित होता है जो विश्व चेतना Universal consciousness की ओर इगित करता है। धर्म की सत्ता मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे सार्वभौम एव सर्वकालीन है। तत् पश्चात् Maslov मासलोव एव Collin Wilson कालिन विलसन ने मनोविज्ञान की प्रक्रिया को आगे बढाते हुए मन के पीछे व्याप्त परम सत्ता को विराट चेतना Collective Consciousness माना है, इसका दर्शन हमे धर्मपरायण व्यक्तियो के आचरण में स्पष्ट रूप से होता है।

धर्म का जन-जन मे प्रसार करने मे मनोविज्ञान (Mass Psychology)की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है। मनोविज्ञान कहता है एक ही बात समूह के समक्ष बार-बार दोहराई जाय तो उसका मन पर अदृश्य रूप से गहरा प्रभाव पड़ता है। यह प्रक्रिया जिन विचारो को समष्टि मे सम्पादित करती है वे विचार व्यक्ति को भी आकर्षित करते है। सभी धार्मिक सगठन व सम्प्रदाय धर्म के उदात्त विचारो का इसी प्रकार प्रचार प्रसार करते रहे और कर रहे है। सुन्दर मन्दिर देवस्थान उत्सव-त्यौहार प्रवचन इत्यादि इसी महत् कार्य की पूर्ति करते है। इस प्रकार जन जन मे धार्मिक सस्कार का प्रबल रूप से प्रसार होता है जिससे मानव समाज का स्वत उन्नयन हो जाता है। यही धर्म का व्यापक मनोवैज्ञानिक लक्ष्य है।

धर्म और समाज धर्म मूलत व्यक्ति चेतना है वह व्यक्ति की अन्तर्यात्रा है।

धर्म व्यक्ति को अपने अन्दर झाकने व स्वमूल्याकन करने की प्रेरणा देता है। अत इसमे बाहर की दौड़ धाम, दूसरों से प्रतिस्पर्धा या स्वार्थ एव लालसा का भाव कम है। यह तो प्रतिक्षण अपनी दुर्बलताओ को परास्त कर निरन्तर आगे बढ़ने की दृढ निष्ठा है। यही कारण है बाहर व भीतर उसकी अविश्राम यात्रा शुभ - सकल्प प्राप्ति करना है। अत धर्म व्यक्ति को उदार बनाता है सम्पर्कशील बनाता है वह नेश के लिये समाज के लिये महत् आदर्श के लिये अपने निजी स्वार्थ को त्यागने मे तत्पर रहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति समाज की इकाई होने के कारण जितना उदात्त होगा उतना ही समाज उन्नत होगा। जो धार्मिक सस्कार व्यक्ति को महान् बनाते है वे ही सामूहिक रूप से समाज को उच्चस्तरीय भूमिका पर प्रतिष्ठित करते है जो अन्ततोगत्वा राष्ट्र को एक सूत्र में धारण कर गरिमामय बनाते है। धर्म-निष्ठ महापुरुष का आचरण युगो युगो तक समाज को गोमुख से निकली भागीरथी की तरह प्रेरणा देता रहता है। वह ऐसे आदर्श स्थापित करता है कि परवर्ती काल में उसके अनुयायी उनके सदाचरण का अनुकरण करते करते एक परम्परा बना देते है जो विशाल भागीरथी की तरह सब के जीवन को पावन और उदात्त बना देते है। उनका उदात्त व्यक्तित्व सारे समाज को उन्नति और प्रगति की ओर अग्रसर करने लगता है। हमारे अवतारी पुरुष एव महर्षियो ने यही मार्ग निर्दिष्ट कर भारत में धर्म के व्यापक स्वरूप को सामाजिक स्तर पर जन-जन के हृदय में सस्थापित किया। इस प्रकार मानव का व्यक्तिगत आनन्द समष्टि मे समा जाता है उसकी अभिव्यक्ति समाज में होती है। इसी प्रकार समाज धर्म से आबद्ध हो जाता है। धर्म समाज को व्यापक व्यक्तित्व प्रदान करता है। उसकी समष्टि चेतना के सस्पर्श से पूरा सामाजिक जीवन आलोकित हो उठता है।

भारतीय जीवन व समाज आरम्भ से अन्त तक धर्म से ओतप्रोत है। हमारे जन्म से लेकर सभी प्रमुख कार्य धर्म से अनुप्राणित है। हमारे जन्म के समय के गीत, विवाह-गीत तीजत्यौहार के गीत ऋतुगीत यज्ञगीत उत्सवनृत्य गीत लोक गीत सभी धर्म के ताने बाने से बुने हुये हैं। धर्म व्यक्ति चेतना से आरम्भ होता है और समष्टि मानवीय चेतना म या सामाजिक चेतना में व्याप्त हो जाता है। वह तो हमारे भावी जीवन को व्यक्तिगत एव सामाजिक स्तर पर सुगठित कर देता है। इसी सामाजिक चेतना के अन्तर्गत धर्म ने कई सम्प्रदायों का रूप लिया जो सामाजिक विकास के लिये सहायक एव एक दूसरे के पूरक रहे। क्योंकि भारत के सभी सम्प्रदायो के प्रवर्तक एक ही धर्म के अनुयायी है और एक ही परम तत्व को स्वीकारते हैं भारतीय धम इतने विशाल जनराशि व जन जीवन को एक सत्र में धारण किये हुये है।

समस्त भारतीय जीवन प्रणाली धर्म से गुथी हुई है। हम जीवन के अग प्रत्यग में धर्म का प्रभाव देख सकते है। हमारी समस्त जीवन पद्धति धर्म का अभिन्न अग है। इसी ऐक्य के द्वारा धर्म का लक्ष्य अभ्युदय और निश्रेयस् सिद्धि होता है। इसमें हमारे लौकिक एव आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता है इसलिए धर्म का व्यावहारिक स्वरूप व्यक्तिगत जीवन में एव समाज में शिवत्व का सस्थापन है। जो इसे आत्मसात् कर लेते है — श्रेयस् के पथ पर अग्रसर होते हैं जिसमे समाज और राष्ट्र महान् बनते हैं।

धर्म और विज्ञान विज्ञान मानवीय चेतना की अनुपम उपलब्धि है। वह शुद्ध ज्ञान प्रक्रिया है जो नियमनात्मक विधि से विश्व के वाह्य तत्वों को विषय बना कर अनुसन्धान व अन्वेषण करता है। धर्म भी अन्तर्तम भावों को वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक पद्धति से निरीक्षण करता है। सर्जनात्मक चेतना से दोनो ही वाह्य एव आभ्यन्तर को परखने मे सफल हुए हैं। वे ऐमे चरम विन्दु पर एक हो जाते है जहाँ मानव कल्याण लक्ष्य बन जाता है। दोनों मिलकर ऐसी एक विचारशील प्रक्रिया की प्रेरणा प्रदान करते हैं जहाँ व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ एव सभी स्वार्थों की सीमाओं को लाघ कर मानव हित के लिए कार्यरत हो जाता है। वैज्ञानिक एव धर्म परायण व्यक्ति दोनों सपूर्ण जगत् को लक्ष्य में रख कर मानव जीवन को आध्यात्मिक अर्थवत्ता देते है। ज्योर्ज वाल्ड कहते हैं विज्ञान परम तत्व को समझने का प्रयास है - व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो वह एक प्रकार से धर्म जैसी प्रक्रिया ही है।

> Science is the attempt to understand Reality Science is a
> quasi religious activity in the broadest sense of the term
>
> George Wald

विज्ञान ने अपने व्यापक तकनीकी प्रयोगो द्वारा मानव जीवन को तरह-तरह से सवारा है अकल्पनीय सुख सुविधाएँ प्रदान की हैं लेकिन साथ साथ प्रबल सहारशक्ति का भी निर्माण किया है। आज यदि हम विज्ञान की विभीषिकाओं से असुरक्षित या भयाक्रान्त हैं तो यह विज्ञान के दुरुपयोग या मानव की आसुरी प्रवृत्ति के कारण ही हो सकता है। हम जानते हैं कि हर ज्ञान तटस्थ होता है। मानव का विवेक ही उसे कल्याणान्मुख करने में सक्षम है। धर्म ही सद् भावनाओं का मानव में इन्द्र करता है। अत जब विज्ञान और धर्म अपने इष्ट मानव कल्याण से जुड़ जाते हैं तो मानव जीवन सुख समृद्धि एव आनन्द प्राप्त करता है। भय की स्थिति स्वत समाप्त हो जाती है। इसीलिए धर्म और विज्ञान का समन्वय होना अत्यन्त आवश्यक है। एन्सटिन कहते हैं वैज्ञानिक अनुसधान में सबमे

उदात्त हेतु वैश्विक धर्म चेतना ही है।

I maintain that the cosmic religious feeling is the
strongest and noblest motive for scientific Research

जब हम सारे विश्व की सरचना के बारे मे विचार करते हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि एक विराट सत्ता नियमित रूप से इसे सचालित कर रही है। सभवत वह सत्ता ही स्वय विश्व के रूप में व्यक्त हो रही है। इस अद्वैत की स्थापना करते हुए योगवासिष्ठ म कहा गया है कि चिदात्मरूप परमाणु म ही सम्पूर्ण जगत् विद्यमान रहता है और उसी से जगत् के विविध रूप प्रतिभासित होते है।' ॥ यो० वा० 81/51 ॥

आधुनिक वैज्ञानिक डेविड वोहम भी इलेक्ट्रोन के बारे में इसी प्रकार के विचार की ओर इगित करते है - वे कहते हैं जहाँ तक इलेक्ट्रोन का पर्यावरण से सम्बध है वह स्वय पर्यावरण का सर्वेक्षण करता है वह उसी प्रकार व्यवहार करता है जैसे मनुष्य करते है।'

The electron in so far as it responds to a meaning in its
environment is observing the environment
It is doing exactly what human beings are doing '
David Boham

वैज्ञानिक चिन्तक फ्रिट्ज कैपरा मानते है कि रहस्यवादियो की तरह विज्ञान भी मूल भौतिकी तत्व को इन्द्रियातीत अनुभूतियों द्वारा समझने का प्रयास कर रहा है। ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञान तत्व सबधी निर्णय देने में दर्शनाभिमुख होता जा रहा है। धर्म की अन्तर्मुख यात्रा एवम् विज्ञान का बहिर्मुख अनुसधान एक ही मिलन विन्दु की ओर द्रुतगति से पहुँच रहे हैं। इनका सुयोग मानव जीवन को उदात्त बनाते हुए हमारे कार्य को आराधना में परिणत कर देता है। समता आराधन अच्युतस्य। '

अणु वैज्ञानिक ओपन हैमर कितने विह्वल हो गये थे जब उन्होंने एटम के प्रथम परीक्षण को देखा। आश्चर्य चकित होकर वे श्रीमद् भगवद् गीता के श्लोकों का पाठ करने लगे।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन ॥'

धर्म साहित्य एवम् ललित कलाएँ धर्म में निहित सौन्दर्य बोध हमारे साहित्य संगीत नृत्य नाट्य चित्रकला मूर्तिकला स्थापत्यकला लोक-कला सभी में ओत-प्रोत है। हमारे यहाँ यह परपरा ही रही है कि कोई भी नूतन कार्य प्रारम्भ करने के पहले धार्मिक अनुष्ठान अनिवार्य था और यह पद्धति आज भी परिलक्षित होती है। प्राचीन काल से हमारे यहाँ साहित्य एवम् सगीत शिल्प की परपरा चली आ रही है। वेदों के अधिक भाग गान के रूप में प्रस्तुत किये जाते है और सामवेद तो गान विद्या का आधार ही माना गया है। नारद की वीणा शिव का डमरू उमा का लास्य नृत्य एव शकर का ताण्डव जो सृजन एवम् सहार एक साथ प्रस्तुत करता है जगत् प्रसिद्ध है। साहित्य में तो कुछ प्रमुख ग्रथो ने पूरे भारतीय साहित्य पर अपना अमिट एव अक्षुण्ण प्रभाव छोड़ा। वेद वाल्मीकि-रामायण, व्यास कृत महाभारत श्रीमद्भागवत पुराण एवम् अन्य पुराण तो हमारे परवर्ती साहित्य के लिए मानो सदा-सदा के लिए प्रवहमान स्रोत बन गए है। आज सहस्राब्दियों बाद भी हम किसी उत्कृष्ट रचना का अध्ययन करते हैं तो कथानक हो या विचार इन्हीं उपरोक्त ग्रथों की प्रेरणा से लिखे गए हैं। ये ही इनके स्रोत है। यही बात सगीत, नाट्य कथा, चित्रकला आदि में परिलक्षित होती है। भारतीय जन-जीवन इन ग्रथों का अत्यन्त पूज्य एवम् आराध्य भाव से अध्ययन व पठन करता है।

इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने मे हमारे सत, कवियों का विलक्षण अवदान रहा है। गूढ़ दार्शनिक तत्व चिन्तन को जहाँ विशिष्ट विद्वद्गण ही समझ पाते थे उसे जन-जन की बोली द्वारा लोक मानस मे सस्थापित करने का कार्य सतो ने किया। इन्होंने गभीर चिन्तन को सहज बना दिया और गीतो द्वारा घर-घर तक पहुँचा दिया। धर्म को मात्र चिन्तन का विषय न रखकर दैनिक जीवन का अग बना दिया। यही कारण है गहन तत्व चिन्तन की बात को अनपढ़ भारतीय सहज रूप से कह जाता है जिसे सुनकर सभ्रान्त व्यक्ति भी आश्चर्यचकित हो सकता है। जैसे एक भोला ग्रामीण भी कहता हुआ पाया जाता है आत्मा सो परमात्मा यह ससार सब माया है। इतनी गहरी पैठ है सत कवियों के काव्य एव गीतो की कि सारे भारत वर्ष में हर भाषा में छाए हुए हैं। भारत की समस्त ललित कलाओ पर एव लोक कलाओं पर इनका व्यापक प्रभाव पडा है। इन कवियो के विचारो एव आदर्शों मे जन-जीवन ओत-प्रोत है। सत कवियों की वाणी के इस प्रसाद ने धर्म एवम् ललित कलाओं द्वारा मानवीय चेतना मे सत्य शिव सुन्दरम् का सचार किया। धर्म प्रेरित कला और साहित्य उदात्त और शाश्वत है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म की परिभाषाएँ जानना एवम् उनके लक्षणो को समझना मात्र पर्याप्त नही है। इसे तो हमारे दैनिक जीवन में धारण करना परम आवश्यक है।

धर्म मानवीय चेतना की उज्ज्वल उपलब्धि धर्म उतना व्यापक है जितना मानवीय चेतना का विराट आयाम। हम देख चुके है कि वह देश काल जाति वर्ग, वर्ग किसी से बधा हुआ नहीं है। न यह जकड़ा हुआ है किसी मतवाद प्रान्तवाद या सकीर्ण राष्ट्रवाद से। जो विचार धाराए, जीवन पद्धतियाँ हमें सकीर्णता के घेरे में कुण्ठित करती है उनका धर्म मे कोई स्थान नही। धर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक व तेजोमय है। हमारे अन्तस्तम मे छिपे लेश मात्र कलुष को भी वह अपनी प्रकाशमय रश्मियों से आलोकित करने मे सक्षम है धर्म व्यापक चेतना का प्रतिफल है कि विश्व में हमें कोई अपने से पराया नही लगता। मानव मानव एक ही परिवार के सूत्र में बधे हुए है धर्म मे कहीं द्वैत नहीं है सर्वत्र एक ही समान प्रकाश है। उच्चतम दर्शन चिन्तन, नैतिक जीवन आचार एवम् विचार को व्यावहारिक जीवन में प्रश्रय देने वाला धर्म समस्त मानव जाति का उन्नयन करते हुए उसे उदात्तता की ओर उन्मुख करता है। इसलिए धर्म मानव मात्र के लिए काम्य है वरेण्य है और आचरणीय है। इसके प्रखर मूल्यों से ही हम अधर्म आदर्शहीनता हिंसा स्पर्धा उग्रवाद आदि कल्मषों से मानव जाति का परित्राण कर सकेंगे। मानव में निहित दिव्यता के बोध से ही हम अधर्म के काले बादलो को विदीर्ण कर इस पुनीत भूमि पर सुख शांति एवम् समृद्धि को सस्थापित रखेगे। मानव का हर सकल्प एवम् स्वाभिमान इसे कार्यान्वित करने मे सफल होगा। यही मानव जाति का शिव सकल्प है। धर्म ही इसको सम्पन्न करने मे सक्षम है।

गीता-सार : विवेचन

कुरुक्षेत्र के धर्म क्षेत्र मे जब कौरवो और पाण्डवो की सेनाएँ आमने-सामने युद्ध के लिए सन्नद्ध थीं रणभेरिया बज चुकी थी, महारथियों ने अपने-अपने शख बजाकर युद्ध की घोषणा कर दी थी, उस समय अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि रथ को युद्ध भूमि के बीच मे ले जाएँ' जिससे उसे ज्ञात हो जाय कि लड़ाई किन-किन से करनी है। भगवान श्रीकृष्ण जो कि अर्जुन के सारथी थे-रथ को सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर देते हैं। युद्ध के लिए प्रस्तुत अपने सभी गुरुजनो सबधियों बधुओं और मित्रों आदि को देखकर और यह समझाकर कि इन्हें मारना होगा, इसका विचार कर अर्जुन के मन में युद्ध से विराग हो गया - धनुष हाथ से स्वत छूट गया। इस युद्ध से होने वाले भीषण दुष्परिणामों की आशकाओं से भयाक्रान्त होकर अर्जुन ने भगवान से ऐसी विकट स्थिति में कर्तव्य-निर्देश के लिए निवेदन किया। भगवान ने अर्जुन (जो जीव का प्रतिनिधित्व करता है) के मन मे उठी कमजोरी को समझकर उपदेश दिया जिससे वह व्यामोह को छोड़कर धर्म युद्ध के लिए तैयार हो जाए।

श्रीमद्भगवद् गीता के अध्ययन से जो कुछ सहज रूप से गृहीत होता है- वह आगे प्रस्तुत है -

प्रभु की प्रेरणा समझकर प्रभु को समर्पित होते हुए निश्चयात्मिका बुद्धि से फल की कामना न रखते हुए स्थित-प्रज्ञता के साथ अपना नियत कर्म लोक-मगल

धर्म मानवीय चेतना की उज्ज्वल उपलब्धि धर्म उतना व्यापक है जितना *मानवीय चेतना का विराट आयाम। हम देख चुके है कि वह देश काल जाति, वर्ण,* वर्ग किसी से बधा हुआ नहीं है। न यह जकड़ा हुआ है किसी मतवाद प्रान्तवाद या सकीर्ण राष्ट्रवाद से। जो विचार धाराए जीवन पद्धतियाँ हमें सकीर्णता के घेरे मे कुण्ठित करती है उनका धर्म मे कोई स्थान नही। धर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक व तेजोमय है। हमारे अन्तस्तम मे छिपे लेश मात्र कलुष को भी वह अपनी प्रकाशमय रश्मियों से आलोकित करने म सक्षम है धर्म व्यापक चेतना का प्रतिफल है कि विश्व में हमे कोई अपने से पराया नही लगता। मानव मानव एक ही परिवार के सूत्र में बधे हुए है धर्म मे कहीं द्वैत नहीं है सर्वत्र एक ही समान प्रकाश है। उच्चतम दर्शन, चिन्तन नैतिक जीवन आचार एवम् विचार को व्यावहारिक जीवन में प्रश्रय देने वाला धर्म समस्त मानव जाति का उन्नयन करते हुए उसे उदात्तता की ओर उन्मुख करता है। इसलिए धर्म मानव मात्र के लिए काम्य है वरेण्य है और आचरणीय है। इसके प्रखर मूल्यों से ही हम अधर्म आदर्शहीनता हिंसा स्पर्धा उग्रवाद आदि कल्मषों से मानव जाति का परित्राण कर सकेंगे। मानव मे निहित दिव्यता के बोध से ही हम अधर्म के काले बादलो को विदीर्ण कर इस पुनीत भूमि पर सुख शाति एवम् समृद्धि को सस्थापित रखेगे। मानव का हर सकल्प एवम् स्वाभिमान इसे कार्यान्वित करने मे सफल होगा। यही मानव जाति का शिव सकल्प है। धर्म ही इसको सम्पन्न करने मे सक्षम है।

सेवा ही यज्ञ है। यज्ञ ही कर्तव्य कर्म है।

7 द्वन्द्वातीत	मनुष्य जीवन द्वन्द्वो से ओत-प्रोत है। ये द्वन्द्व सुख-दु ख हानि-लाभ, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, आदि के रूप मे सब के जीवन मे आते हैं। ऐसी स्थिति मे जो दु ख से उद्विग्न हो और सुख में हर्षातिरेक का अनुभव न करे तथा अपने मानस को "सम" स्थिति में रख सके - वह द्वन्द्वातीत है।
8 गुणातीत	सत्व रज और तम ये तीन गुण हैं जिनसे विराट प्रकृति एव मानव प्रकृति बधी हुई है। इन तीनों गुणो के बधन से मुक्त होना ही गुणातीत होना है। वह स्थिति मत् की है। गुणातीत होने से भगवद् साक्षात्कार सभव होता है।
9 योगक्षेम	जो प्राप्य है उसे प्राप्त करना "योग" है और जो प्राप्त है उसका सरक्षण करना "क्षेम" है। जो व्यक्ति अपने आपको भगवद् - समर्पित कर देता है उसका योग और क्षेम भगवान वहन करते है।

ऐसे तो गीता का सार ऊपर दे दिया गया है - फिर भी अति सक्षेप में भगवान के बताये मार्गों को जान लेना उचित होगा। गीता में प्रसगवश दर्शन की भी चर्चा आई है - लेकिन यह मात्र दर्शन का ग्रन्थ नही कहा जा सकता। यह ग्रन्थ मानव मात्र के उद्धार तथा उसके कर्तव्यो की बात बतलाता है। इस दृष्टिकोण से यह ग्रथ किसी भी सम्प्रदाय देश समुदाय तथा किसी वर्ग-विशेष का नहीं है। यह समस्त मानव जाति के हित का है और उसके लिए है। यदि गीता को धर्म-ग्रथ की सज्ञा दी जाय तो मानना पड़ेगा कि यह मानव धर्म की अक्षय निधि है।

गीता के हर अध्याय के अन्त में अकित पुष्पिका मे गीता को ब्रह्मविद्या का योग शास्त्र कहा है अत योग शब्द की विभिन्न व्याख्याओ को समझना समीचीन होगा। स्वामी रामसुखदासजी ने इस का सूक्ष्म विश्लेषण "गीता दर्पण" मे किया है —

"युजिर योगे " युज् धातु से बने योग शब्द का अर्थ है समरूप परमात्मा के साथ नित्य सबध। इसे ही "समत्व योग उच्यते ' कहा है। गीता - 2/48 ॥

एवम् नि सगता से यज्ञ के रूप में करना ही मनुष्य के लिए अभीष्ट है। देह को नश्वर तथा आत्मा को अजन्मा एव परमात्मा को सर्वव्यापक समझते हुए प्रभु का सतत् स्मरण करते हुए उनकी शरणागति में जाना ही श्रेष्ठ है। इसी से आसुरी वृत्तियों का नाश होता है एवम् व्यक्ति द्वन्द्व रहित होकर गुणातीत हो जाता है। उसका योगक्षेम भगवान स्वय वहन करते है जिससे वह चिर शाति एवम् आनन्द प्राप्त करता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसमें कतिपय शब्द गीता प्रबोधक ने एक निश्चित भाव से लिखे हैं। अत उन शब्दों का भावार्थ प्रस्तुत करना उचित है —

1 *समर्पण*	*जिन वस्तु व कार्यों को हम अपना मानते हैं उन्हे एवम्* अपने आपको भगवद् चरणो में निवेदित कर देना ही समर्पण भाव है। इसे हम अहंता'' एवम् ममता को समर्पित करना कह सकते हैं।
2 निश्चयात्मिका बुद्धि	जो बुद्धि अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अचल व दृढ़ है वह निश्चयात्मिका बुद्धि है। यह दृढ़ सकल्प का निर्माण करती है।
3 *स्थित-प्रज्ञता*	*सुख और दु ख लाभ और हानि अनुकूल-प्रतिकूल* मान-अपमान सभी बातो में जो व्यक्ति अपने को समभाव म स्थित रखता है उसे ' स्थितप्रज्ञ ' कहा जाता है।
4 नियत कर्म	जो कार्य जिस व्यक्ति के लिए उचित अथवा शास्त्र द्वारा *निर्दिष्ट है उसकी प्रकृति के अनुकूल है* जैसे विद्याध्ययन ब्राह्मण के लिए। उसे ही नियत कर्म या स्वधर्म कहा गया है।
5 नि सगता	यह अनासक्ति का पर्याय है। जीवन मे सभी कार्य करते हुए कर्तापन का बोध न रखना नि सगता है। इससे सारे कार्य भगवद् समर्पित हो *जाएगे। ये कर्मबंधन से* मुक्त रहेंगे। ये उसी प्रकार होगे जैसे पद्म पत्र का पानी मे रहना होता है।
6 यज्ञ	जब कार्य सर्वोत्तम भाव से प्रेरित हाकर सब के हित के लिए नियोजित हो जाते हैं तो यज्ञ सम्पन्न हो जाता है। परब्रह्म ही यज्ञ पुरुष है और सृष्टि की

पश्यति' यही आत्मबोध है। जहाँ मैं और मेरा, तू और तेरा का भेद ममाप्त हो जाता है। यह अनुभूति अहभाव व ममता जन्य मभी बधनो को ममाप्त कर देती है। ज्ञानाग्नि मे मानो मर्वकर्म - बधन भस्मसात् हो जाते है। हमारा जीवन ज्ञान के आलोक मे निर्मल एवम् पवित्र हो जाता है। इसलिये भगवान कहते है न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यत।' यही ज्ञान योग का अनन्त विस्तार है।

2 **कर्म योग** गीता के अनुसार तो मन की हर क्रिया यज्ञ का रूप धारण कर सकती है यदि वह भगवद् ममर्पण भाव से की जाय। यज्ञ की भावना का तात्पर्य ही है भगवद् समर्पित बुद्धि से कार्य करना।" जो कर्म यज्ञ की भावना बिना किये जाते है वे सब बधन कारक होते है क्योकि उनमे कर्तापन का अहकार निहित है। व्यक्ति बधन मुक्त तभी हो सकता है जब वह सभी कार्य भगवान के लिये करता है। इसलिये यज्ञ भावना से किये हुये कर्म व्यक्ति को असग एवम् उदार बना देत हैं। वह किमी से वैर नहीं रखकर मैत्री स्थापित करता है एवम् लोक-सग्रह के कार्य मे प्रवृत्त हो जाता है।
गीता - 11/55 ॥

इस प्रकार किये हुए कर्म जीवन को पावन एवम् सार्थक बना देते है। कर्म के सदर्भ में विकर्म और अकर्म को समझना भी उचित होगा। इन दानो के सबध में अलग-अलग विद्वानो ने भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की है। इस विवाद मे न पड़कर जो सामान्य रूप से स्वीकृत हैं उन्हीं का निरूपण करते हैं।
क - विकर्म शास्त्र - निन्दित अशुभ कर्म या निषिद्ध कर्म को विकर्म कहते है। इसलिये इन कर्मों का परित्याग जीवन मे अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे कर्म जीवन को कलुषित करते हैं। ये सारे ही कर्म तामसी होते हैं एवम् आसुरी प्रवृत्ति से प्रेरित होते हैं।

ख - अकर्म श्री गीता कहती हैं जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही कर्म के गूढ रहस्य को जानता है। कर्म की गति अत्यन्त गहन है गहनी कर्मणो गति। इसलिए कर्म के रहस्य को जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। जो व्यक्ति कर्म करता हुआ भी अपने को कर्ता नही मानता वाह्य रूप मे वह कर्म करता हुआ प्रतीत होता है लेकिन अन्तर मे वह पूर्ण रूपेण असग रहता है वह सदा अनुभूति करता है कि सारे कार्य का सचालन प्रभु स्वय करते है। अत अकर्म कर्म की उच्चस्तरीय स्थिति है।

भक्ति मार्ग भगवत् समर्पण की भावना मे ही भक्ति है। भगवत् समर्पित बुद्धि से स्वधर्म

युज् समाधि ' से बने योग शब्द का अर्थ है चित्त की स्थिरता अर्थात् समाधि की स्थिति । यत्रोपरमते चित्त निरुद्ध योग सेवया । गीता - 6/20 ॥

युज् सयमने ' धातु से बने योग शब्द का अर्थ है सामर्थ्य प्रभाव - पश्य मे योगमैश्वरम् । गीता - 9/5 ॥

पातजल योग दर्शन मे योग को चित्त वृत्तियो का निरोध कहा है। योग चित्तवृत्ति निरोध । इसका परिणाम होता है स्वरूप में अवस्थान। गीता में चित्त वृत्तियो को समता मे स्थित करने का निर्देशन है - इससे स्वाभाविक योग की स्थिति सिद्ध हो जाती है। पातजल योग की परिभाषा एवम् गीता की परिभाषा मे स्वामी रामसुखदासजी ने सूक्ष्म भेद निर्दिष्ट किया है। वृत्तियों के निरोध से निर्विकल्प अवस्था होती है और समता मे स्थित होने से निर्विकल्प बोध होता है। निर्विकल्प बोध सभी अवस्थाओ से परे और सपूर्ण अवस्थाओ का प्रकाशक होने के कारण योग के सपूर्ण पक्ष को उजागर करता है। यही योग का सर्वोत्तम फल है। जो साधक इस अवस्था को अनुभूत कर लेता है वह नित्य योग मे स्थित हो जाता है। उसका सर्व कार्य दिव्य एवम् भगवद् प्रेरित हो जाता है। वह अध्यात्मवेता होने के कारण ब्रह्मविद् हो जाता है- ते ब्रह्मविद ' गीता 8/24 ॥ यही आत्म साक्षात्कार या ब्रह्मानुभूति एवम् यही योग की उच्चतम स्थिति व उसका दिव्य फल है जो इसे प्राप्त कर लेता है उसका जीवन पावन एवम् लोक-मगलकारी हो जाता है।

जब हम योग के व्यावहारिक पक्ष को देखते है तो हमे ज्ञात होता है कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी अलग अलग प्रवृत्ति होती है। अपने उद्धार का मार्ग हर व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुरूप निश्चित करता है। गीता ब्रह्म और जीव के मिलन की साधना का पथ प्रदर्शन करने वाला शास्त्र है। वियाग योग सज्ञितम्' गीता - 6/23॥ गीता ने उपरोक्त योग के तीन मार्ग बताए है - ज्ञान कर्म और भक्ति। इन तीनो योगों की युति को समत्व योग' के नाम से अभिहित किया है। इसे ही श्री अरविन्द समग्र योग कहते है जिससे भगवद् साक्षात्कार सहज सम्पन्न हो जाता है।

1 ज्ञानयोग सारी सृष्टि में व्याप्त अदृश्य शक्ति जो इसका नियमन और नियन्त्रण करती है इसकी अनुभूति ज्ञान के माध्यम से होती है। जो व्यक्ति इस परम तत्व या सत्य का साक्षात्कार कर लेता है उसका जीवन दिव्य बन जाता है। अपने अन्तस्तल मे वह अनुभव करता है कि सारी सृष्टि मे एक ही परमात्मा व्याप्त है। वह स्वय सृष्टि बना है। वह अपने आप को सभी मे देखता है। यही सर्वात्म भाव है। यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि

विश्वरूप दर्शन एवम् पुरुषोत्तम योग भगवद् साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए देव, मुनि एवम् मुमुक्षु सभी निरन्तर साधना करते हैं पर, उनके लिए भी इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। भक्त वत्सल भगवान श्रीकृष्ण ने परम अनुग्रह करके इस विलक्षण स्थिति का अपने विराट रूप द्वारा अर्जुन को दर्शन कराया-क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण को प्रतीत हुआ कि अर्जुन की शकाएँ इतना बताने के बाद भी मिट नहीं रही हैं। अर्जुन ने भगवान के परम तेजोमय एव ऐश्वर्य परिपूर्ण अनन्त विराट रूप का दर्शन किया। समवेत दिव्य प्रकाश से मडित अत्यन्त अलौकिक, अदभुत एवम् प्रासादिक रूप को देखकर अर्जुन अत्यन्त आनदित हुआ पर साथ ही भगवान के विकराल रूप को देखकर वह भयभीत भी हुआ। उसने भगवान से प्रार्थना की कि वे पुन सौम्य रूप मे प्रकट हो गए। इस परम साक्षात्कार से अर्जुन कृतार्थ हुआ। उसके सारे व्यामोह नष्ट हो गए। वह पूर्णरूप से समर्पित हो गया और गीता के समापन अध्याय में प्रतिज्ञा करता है करिष्ये वचन तव"। जो सारे कार्य भगवद् अर्थ करता है उसके सारे कार्य दिव्य हो जाते है। वह निसग, निर्वैर होकर भगवान का परम प्रिय हो जाता है।

अपने पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवान ने कहा है कि "जो नाशवान् दिखाई देता है - वह मैं ही हूँ - वह क्षर पुरुष है। मेरी महिमा इससे पूरी उजागर नहीं हो सकती। क्षर पुरुष के बाद यह जो अक्षर - अविनाशी जीवात्मा है - वह भी मैं ही हूँ। मेरे विराट अक्षर स्वरूप को हृदयगम करने के लिये मेरे पुरुषोत्तम स्वरूप को समझना आवश्यक है। मैं क्षर पुरुष हूँ - पर, मेरा अक्षर स्वरूप इससे अतीत है, पर मेरा पुरुषोत्तम रूप इससे भी उत्तम है-इसलिये लोकवेद में भी मैं ही विख्यात पुरुषोत्तम हूँ।" यह कथन अद्वैत की घोषणा करता है पर साथ ही साथ स्वरूपगत द्वैत को भी स्वीकारता है। इस प्रकार गीता में क्षर-अक्षर एवम् पुरुषोत्तम के रूप में भगवान का वर्णन हुआ है।

गीता भाष्य परम्परा

आचार्य परम्परा में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एवम् गीता को प्रस्थान त्रयी के नाम से अभिहित किया है एवम् इन पर भाष्य लिखना आवश्यक माना है। अत महर्षि, सत एवम् मनीषी आचार्यों ने गीता पर सुचिंतित भाष्य लिखे। इनका मुख्य हेतु लोक-सग्रह एवम् मानव कल्याण ही रहा है। अत उनके अनुयायियों ने उस विशेष चिन्तन धारा को ध्यान में रखते हुए सुनियोजित अलग अलग पथ निर्माण किए।

स्थूल दृष्टि से इन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों में मत भिन्नता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। आश्चर्य की बात है कि एक ही ग्रथ के इतने भिन्न अर्थ प्रस्तुत

में जाते थे। अनासक्त भाव द्वारा उनके मन में निहित अन्तर्द्वन्द्वों का समाधान हो जाता था। अनासक्त भाव व्यक्ति को निर्द्वन्द्व बना देता है। इसी से जीवन में स्थितप्रज्ञता सस्थापित होती है।

अनासक्त वही होता है और वही हो सकता है जो ससार से कुछ लेता है तो उसे लौटाने के लिए तत्पर होता है। वह अपना समस्त जीवन लोकोपयोगी कार्य में लगा देता है। उसे अपने लिए कुछ करना नहीं है इसलिए उसके द्वारा की गई क्रिया साधना बन जाती है। गीता में इसके व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख हुआ है जैसे - 'यत् करोषि', जो करते हैं 'यद् यदश्नासि' जो आहार लेते हैं, ये दोनों ही सासारिक कार्य हैं यद् जुहवापि' यज्ञ यागादि करते हैं यद् ददासि', दान करते हैं, यद् तपस्यासि जो तप करते हैं ये तीनों आध्यात्मिक एवम् नि सग कार्य हैं। ये पाँचों कार्य जब भगवद् समर्पण हो जाते हैं तब कर्तापन का भाव ही नहीं रहता। अत इन क्रियाओं में अहता और ममता नहीं रहती। अत स्वरूप मात्र कर्म-फल की आकाक्षा नहीं रहती। सभी कार्य भगवद् समर्पित बुद्धि से होने के कारण साधक सहज रूप से अनासक्त या नि सग हो जाता है। यही अनासक्तयोग की सिद्धि है।

भगवद् समर्पण भी दो भाव से होता है। एक तो समस्त क्रियाओं को भगवान के श्री चरणों में समर्पण कर देना जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरा है क्रिया करने से सभी साधन मन बुद्धि चित्त अहकार आदि अपने आप सहित भगवद् समर्पण कर देना। जब दोनों प्रकार से साधक भगवद् समर्पण कर देता है तब उसकी सभी क्रियाएँ भगवद् प्रीत्यर्थ हो जाती हैं। इसमें सभी योग समाहित हो जाते हैं। सभी बाह्य एवम् आभ्यन्तर द्वन्द्व अनासक्त भाव में लीन हो जाते हैं। जिसने इस स्थिति का अनुभव कर लिया उसके लिये अनुकूल, प्रतिकूल, हानि, लाभ मान-अपमान, राग द्वेष, यहाँ तक कि जीवन-मरण आदि कोई अर्थ नहीं रखते। उसका जीवन निर्द्वन्द्व होने के कारण वह सहज रूप से लोक सग्रह के कार्यों में स्वत समर्पित हो जाता है। निर्द्वन्द्व होने के कारण ससार के प्रति जो अनासक्ति है वह भगवान के प्रति अनुरक्ति में रूपान्तरित हो जाती है। इस प्रकार स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर परम तत्व की अनुभूति करते हुए बाह्य स्थिति का सह भाग बन जाता है। गुणों की ग्रथि से मुक्त होकर गुणातीत हो जाता है।

हृदयग्रथिश्छिद्यते सर्वसशाया "।मुडकोप० 11 2 8॥ उसको भगवान स्वय अपना लेते हैं। उसका पावन चरित्र सर्वत्र मागल्य विकीर्ण करता है। यही अध्यात्म विद्या है - दर्शन की भाषा में ब्रह्म और जीव का शाश्वत मिलन, साधना का चरम लक्ष्य।

श्रीमद् भागवत
ज्ञान - भक्ति - समुच्चय

श्रीमद् भागवत महापुराण माना गया है। इसमें बादरायण व्यासजी ने ज्ञान धर्म और भक्ति का अत्यन्त रसात्मक विवेचन किया है। वेद उपनिषद् एवम् दर्शन के ग्रन्थ अति गूढ़ होने के कारण हर व्यक्ति के लिए इनको समझना कठिन हो जाता है। इसलिए श्रुति एवम् अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों में जो गहन विचार अभिव्यक्त हुए हैं, वे सरल कथाओं एवम् भगवद् गुणानुवाद द्वारा भागवत में निरूपित हुए हैं।

महाभारत जैसे विराट विश्वकोशीय ग्रन्थ लिखने के पश्चात् भी व्यासजी को आत्म तुष्टि नहीं हुई। वे गहरी रिक्तता का अनुभव करने लगे। इस चिन्ता के कारण वे निरन्तर दुखी व अन्यमनस्क रहते थे। एक दिन अनायास ही नारदजी का उनके आश्रम में आगमन हुआ। उन्होंने देवर्षि नारदजी को अपनी व्यथा-कथा सुनाई और इस चिन्ता का कारण पूछा। 'पृच्छामहे त्वाऽऽत्म भवात्मभूतम्।' ॥ भाग. 1.5.5 ॥

नारदजी ने प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्हें बताया कि आपने भगवान के निर्मल चरित्र का गान प्रायः नहीं किया है। मेरी मान्यता है कि जिस शास्त्र से भगवान तुष्ट नहीं होते वह शास्त्र एवम् ज्ञान अपूर्ण है। महाभाग व्यासजी आपकी कीर्ति पवित्र है। आप सत्य परायण एवम् दृढ़व्रती हैं। इसलिए आप सम्पूर्ण जीवों को बन्धन से मुक्त करने के

किए गए। ऐसा प्रतीत होता है कि एक आचार्य का उद्देश्य दूसरे आचार्य के विचारों को खण्डित करना है। वस्तुत बात ऐसी नहीं है।

इन सभी आचार्यों का सम्पूर्ण जीवन मानव जाति के कल्याण एवम् उद्धार के लिए ही समर्पित हुआ है। सभी आचार्य भिन्न-भिन्न समय में हुए और देश काल के अनुरूप उन्होंने व्याख्याएँ की। गीता ग्रथ की यह अपूर्व क्षमता है कि वह हर देश और काल में मार्ग दर्शन प्रदान कर सकता है अत हम देखते हैं शकराचार्य अद्वैत नियकार की स्थापना, गीता के आधार पर करते हुए भी सगुण ब्रहम की उपासना करते हैं और भगवद् समर्पण भाव पर बल देते हैं। अन्य आचार्यों के भाष्य पर भी इसी प्रकार चिन्तन किया जा सकता है। जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि एक ग्रथ इतने विपरीत अर्थ किस प्रकार दे सकता है। उत्तर में यही कहा जा सकता है कि रचना वही उत्कृष्ट होती है जो हर देश और काल में उसके अनुरूप अर्थ, प्रदान कर सके। यह व्यापक अर्थवत्ता उसे कालजयी कृति बनाते हैं। जो स्तरीय विरोधाभास प्रतीत होता है - वह वास्तव में महान् समन्वय मे विलीन हो जाता है और कृति एक सश्लिष्ट रचना बन जाती है। तात्पर्य यह है कि यह विरोधाभासी ग्रथ नहीं है किन्तु देश काल, और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न मतों में समन्वय करता है।

गीता के भाष्य एवम् अनुवादो की परम्परा दीर्घकाल से चली आ रही है। इसका 79 भाषाओं में अनुवाद हो चुका है जिसका अध्ययन विश्वके 80 प्रतिशत लोग सहज रूप मे कर सकते हैं। यह विश्व का एक मात्र दार्शनिक काव्य है जो श्रुति एवम् स्मृति, ज्ञान एवम् आचार दोनों पक्षो का सामजस्य प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि इसकी लोकप्रियता विश्वव्यापी है और अविरल रूप से सतत् प्रवहमान है। गीता' तो मानव कल्याण का अजस्र स्रोत है जो सहस्रों वर्ष पर्यन्त मानव मात्र को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। श्रीकृष्णार्जुन के दिव्य एवम् अद्भुत सवाद को पुन पुन स्मरण कर मानव मात्र धन्य होगा - आनन्दित होगा।

सस्मृत्य सस्मृत्य सवादम् इमम् अद्भुतम्
हृष्यामि च पुन पुन । गीता - 18/76 77 ॥

Gita is the Perennial Philosophy of life (A Huxley)

श्रीमद् भागवत
ज्ञान - भक्ति - समुच्चय

श्रीमद् भागवत महापुराण माना गया है। इसमें बादरायण व्यासजी ने ज्ञान, धर्म और भक्ति का अत्यन्त रसात्मक विवेचन किया है। वेद उपनिषद् एवम् दर्शन के ग्रन्थ अति गूढ़ होने के कारण हर व्यक्ति के लिए इनको समझना कठिन हो जाता है। इसलिए श्रुति एवम् अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थो में जो गहन विचार अभिव्यक्त हुए है, वे सरस कथाओ एवम् भगवद् गुणानुवाद द्वारा भागवत मे निरूपित हुए हैं।

महाभारत जैसे विराट विश्वकोशीय ग्रन्थ लिखने के पश्चात् भी व्यासजी को आत्म तुष्टि नहीं हुई। वे गहरी रिक्तता का अनुभव करने लगे। इस चिन्ता के कारण वे निरंतर दुखी व अन्यमनस्क रहते थे। एक दिन अनायास ही नारदजी का उनके आश्रम में आगमन हुआ। उन्होंने देवर्षि नारदजी को अपनी व्यथा-कथा सुनाई और इस चिन्ता का कारण पूछा। "पृच्छामहे त्वाऽऽत्म भवात्मभूतम्।" भाग 1.5.5

नारदजी ने प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्हें बताया कि आपने भगवान के निर्मल चरित्र का गान प्राय नहीं किया है। मेरी मान्यता है कि जिस शास्त्र से भगवान तुष्ट नहीं होते वह शास्त्र एवम् ज्ञान अधूरा है। महाभाग व्यासजी, आपकी कीर्ति पवित्र है। आप सत्य परायण एवम् दृढ़व्रती हैं। इसलिए आप सम्पूर्ण जीवों को बन्धन से मुक्त करने के

नि॰ समाधि के द्वारा अविन्त्य शक्ति भगवान की लीलाओ का स्मरण कीजिए एवम् उनका गुणानुवाद कीजिए। समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्।'' ॥ भाग० 1 3 3 ॥

नारदजी के उपदेशानुसार व्यासजी ने भगवान की जिन-जिन लीलाओं का समाधि मे दर्शन किया, उनका अत्यन्त रसात्मक एवम् भावप्रवण वर्णन समाधि भाषा द्वारा श्रीमद् भागवत में किया है।

भागवत तो मनुष्य को परमात्मा से मिलन कराने वाला विलक्षण ग्र थ है। भगवान की मधुर लीलाओं की कथाएँ, जहा जन-जन को आनन्द प्रदान करती हैं विद्वद्जनो में आध्यात्मिक रहस्य को जानने एव समझने की उत्सुकता जाग्रत कराती है। भागवत के सबध में यह प्रसिद्ध उक्ति है विद्यावन्त भागवते परीक्षा ' भागवत ही विद्वानों की परीक्षा का ग्रन्थ है। भागवत तो विद्या का अपूर्व भण्डार है। विद्या भागवतावधि '' जिसने इसके मधुर रस का आस्वादन कर लिया वह धन्य हो जाता है।

वेदो का तत्व चिन्तन वेदान्त दर्शन में समाहित है। व्यासजी ने ब्रहम् की ज्ञान परक व्याख्या ब्रहमसूत्र मे की है। इसी प्रकार ज्ञान, धर्म एवम् भक्ति का रसात्मक समन्वय करते हुए उन्होंने भागवत का प्रणयन किया। अत यह आकस्मिक नहीं अपितु स्वाभाविक है कि व्यासजी ने ब्रहमसूत्र एव श्रीमद् भागवत का आरम्भ ' जन्माद्यस्य यत ' से किया। श्री रामानुजाचार्य ने इस सूत्र की व्यापक व्याख्या की है -

जन्मादि ' का अर्थ है सृष्टि स्थिति एव प्रलय आदि। यस्य' का भाव है अचिन्त्य विविध, विचित्र, रचनात्मक निमित्त देश काल, फलोपभोग सम्पन्न ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जीवों से युक्त जगत है वह ब्रह्म है। इसी परम तत्व का ब्रह्म सूत्र में निरूपण हुआ है। इसी परा तत्व का रसात्मक विवेचन, भगवान की लीलाओं द्वारा श्रीमद् भागवत मे हुआ है।

भागवत का सम्पूर्ण चिन्तन इसके मगलाचरण के प्रथम तीन श्लोकों में अभिव्यक्त हो जाता है मानो भागवत का अथ और इति इन्हीं में समा गया हो। जैसे समुद्र की सारी आभा मोती की विच्छित्ति में चमक उठती है वैसे ही भागवत का सारभूत अध्यात्म चिन्तन मगलाचरण के प्रथम तीन श्लोकों में उद्भासित हो जाता है। मगलाचरण तो सर्वत्र मागल्य प्रसार करता है। इसका प्रथम श्लोक -

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादि तरतश्चार्थेष्वभिज्ञ स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरय ।
तेजोवारिमृदा यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहक सत्य पर धीमहि॥ भा० 1 1 1

' जो सम्पूर्ण कार्णो का अनादि कारण है- जिससे सम्पूर्ण विश्व का उद्भव होता है और जिसमें यह निवास करता है तथा जिसके द्वारा इन सब का सहार होता है मैं उस प्रकाशमय परम सत्य का ध्यान करता हूँ।' इस श्लोक में व्यासजी सत्य पर धीमहि'' के द्वारा परमात्मा के परम तात्विक सत्य के स्वरूप का ध्यान करने का आदेश देते हैं। ध्यान का अर्थ है मानस दर्शन, जो इसमें स्व का दर्शन करता है वह स्वय प्रकाश प्राप्त करता है । ध्यान में तेल धारावत सातत्य होना चाहिए। ध्यान च तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति सतान रूपम्'' रामानुज श्रीभाष्य' ध्यान से स्मृति दृढ होती है जिससे स्वरूप की विस्मृति नहीं होती। इस प्रकार ध्रुवा स्मृति'' होने से मनुष्य के मन की सभी ग्रथियाँ टूट जाती हैं। मन स्वतन्त्र एवम् मुक्त हो जाता है। मुक्ति तो मन की ही होती है। आत्मा तो स्वरूप से ही शुद्ध-बुद्ध और मुक्त होता है। ध्यान की निरन्तरता से ध्यान, ध्याता और ध्येय में ऐक्य हो जाता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि भागवत, भक्त और भगवान एक ही हैं। ब्रह्म सूत्र का ज्ञान पक्ष विशेषत दर्शन प्रधान है। मगलाचरण का यह श्लोक भी ब्रह्म की ज्ञानमयी व्याख्या एव उपासना प्रस्तुत करता है। श्रुति ने ब्रह्म को' सत्य ज्ञान अनन्तम् ब्रह्म' कहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् 2 1 1

श्रुति में यह तत्व स्पष्ट होता है कि सत्य की सत्ता अनन्त एव शाश्वत है। वह ब्रह्म का ही स्वरूप है। जो इसका ध्यान करता है वह स्वराट्' स्वय प्रकाश का दर्शन करता है। ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त करता है।

मगलाचरण का दूसरा श्लोक धर्म की महत्ता सस्थापित करता है -

धर्म प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणा सता
वेद्य वास्तवमत्र वस्तु शिवद तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते कि वा परैरीश्वर
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभि शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ भा० 1 1 2

भागवत में विवेचित धर्म उज्ज्वल एवम् निष्कपट है। प्रोज्झितकैत्व धर्म' यह सत् पुरुषों का आधार है। इसमें मात्सर्य का लेश मात्र भी नहीं है और परमार्थ ...

के कारण आनन्द प्रदान करता है। यह आधिभौतिक, आधिदैविक एवम् आध्यात्मिक तीनो तापों से मुक्त करता है। इससे चारों पुरुषार्थ — धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सिद्ध होते हैं । धर्म ही वह धुरी है जिससे अर्थ और काम बधन कर्त्ता न बन कर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कराते हैं। वेद एवम् भागवत धर्म को जीवन में धारण करने का उपदेश देते हैं । अत धर्माणि धारयन् धर्म दैनिक जीवन में कर्म के रूप में आता है। इसमे कर्म की प्रधानता रहती है। कर्म भगवद् निवेदित होने से भगवद् प्रीत्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार नि सग भाव से किए हुए कर्म उपासना बन जाते हैं। उपासना वस्तुत भक्ति का पर्यायवाची ही है। 'उपासना पर्यायत्वात्'' रामानुज श्रीभाष्य निरन्तर भगवद् स्मरण से स्मृति स्थिर हो जाती है जो मूलत भक्ति का ही स्वरूप है। "ध्रुवा स्मृति भक्ति शब्देन अभिधीयते" वह भगवान के आनन्द स्वरूप मे स्थिर होकर उनकी रसमयी लीलाओं का अनुभव करने लगती है। आनन्द तो रस का ही पर्याय है।

मगलाचरण के तीसरे श्लोक मे भगवान के रसात्मक स्वरूप का ही वर्णन हुआ है। उसे अमृत का अक्षय निधि बताया है।

निगमकल्पतरोर्गलित फल
शुकमुखादमृत द्रव सयुतम्।
पिबत भागवत रसमालय
मुहुरहो रसिका भुवि भावुका ॥ भा० 1 1 3

श्रीमद् भागवत वेद रूपी कल्पवृक्ष का मधुर फल है। जिसका माधुर्य शुकदव रूपी तोते के मुख स्पर्श से मधुरतम बन गया है। अर्थात् इस फल का रस अमृत समान माधुर्य से परिपूर्ण है, इसमें कुछ भी त्याज्य नहीं है। इस रस का पान करने से निरन्तर आनन्द की अनुभूति होती है। भावुक रसिक जन ही इसका बारबार पान करते हैं।" वे उस आनन्द का अनुभव करते हैं जो परा भक्ति की अवस्था है। यह श्लोक ब्रह्म के रसमय स्वरूप का वर्णन करता है। अत सत्य एव धर्म भक्ति रस मे सराबोर होकर निरतिशय आनन्द प्राप्त करने का पथ प्रशस्त करते है।

मगलाचरण के इन तीनों श्लोको मे भागवत का सार व्यासदेव उपस्थित कर देते हैं। ज्ञान धर्म एव रसमयी भक्ति की एकात्मता का प्रसाद हमे इस ग्रथ में सहज रूप में उपलब्ध होता है। इनके द्वारा मनुष्य सासारिक एवम् मानसिक कुण्ठाओं से मुक्त होकर भगवद् सान्निध्य एवम् ऐक्य प्राप्त कर सकता है। इन तीनों विधाओं का विश्लेषण एव

विवेचन भागवत में इतस्ततः विकीर्ण है। सुन्दर कथाओं के माध्यम से, दर्शन एव चिन्तन द्वारा अध्यात्म की चरम स्थिति का विवेचन हुआ है। भागवत का अनुशीलन करने से हर मानव ज्ञान, धर्म एव भक्ति का आलम्बन प्राप्त कर सकता है।

मगलाचरण का प्रथम श्लोक ज्ञान परक होने के कारण इस परम सत्य का ध्यान करने का आह्वान है। जो भगवद् साक्षात्कार की साधना के लिए है। ऐसी स्थिति में साधक सहज रूप में वीतराग, द्वन्द्वरहित एव गुणातीत हो जाता है क्योंकि उसका अनुराग एव आसक्ति एक मात्र भगवान मे रह जाती है, उसके सारे कार्य भगवद् निवेदित होने के कारण वह भगवद् लीला का निरन्तर आनन्द लेता है। उसका भगवान से तादात्म सबध हो जाता है। यही ज्ञान और भक्ति का अपूर्व मिलन है यही ज्ञान की उच्चतम स्थिति है। इस ज्ञान पक्ष का विवेचन व्यासजी ने ग्यारहवें और बारहवें स्कध मे किया है।

मगलाचरण के द्वितीय श्लोक का मूल स्वर "धर्म" है। भागवत के पहिले स्कध से लेकर नवमें स्कन्ध तक इस तत्व पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इसमें अनेक धर्म कथाएँ हैं और चौबीस अवतारो का पूरा विवेचन हुआ है। धर्म की भावना भक्ति से स्थिर होती है। इसी लिए मानव जीवन सत्यनिष्ठ एव धर्म परायण होना चाहिए। धर्माचरण से ही मानव चित्त निर्मल और पावन बनता है। तत्पश्चात् वह जितने कार्य करता है वे दिव्य एव लोकोपकारी बन जाते हैं और ऐषणा रहित होने के कारण वे भगवद् प्रीत्यर्थ हो जाते हैं। यह भक्ति की स्थिति कही जा सकती है।

मगलाचरण का तृतीय श्लोक भक्ति प्रधान है। वह भगवान के मधुर एव रसात्मक रूप का वर्णन करता है जो भागवत के दशाम स्कध में निरूपित हुआ है। ऐसे तो भागवत में सभी अवतारों का वर्णन है, सभी दर्शनो का उल्लेख है सभी आचार सहिताओ एव धर्म का व्यापक विवेचन है लेकिन इस स्कध में भगवान श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओ का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। इसलिए दशाम स्कध को भागवत का हृदय माना है। इन लीलाओ के माध्यम से प्रेम और माधुर्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर महाभाव का आनन्द प्रदान करते हैं। इस भाव की अनुभूति भगवद् चरणो में समर्पण शरणागति से ही प्राप्त हो सकती है। भक्ति की यह उच्चतम भूमिका अनुग्रह से ही सभव हो सकती है। इसे पुष्टि भक्ति भी कहते हैं। "पोषनम् तद् अनुग्रहम्" (भागवत 2 10 4) इस अपूर्व रसानुभूति से भगवद् सान्निध्य स्वतः प्राप्त हो जाता है। यही भगवद् लीला में प्रवेश भगवद् मिलन या भगवत् साक्षात्कार है। यह अपने आप मे ज्ञान की परम स्थिति भी है।

मगलाचरण में जिस परम सत्य का वर्णन व्यासजी प्रथम श्लोक में करते हैं उसका विवेचन भागवत के अतिम स्कधों में करते हैं। सम्भवत उनका यह लक्ष्य रहा हो, प्रथम धर्म और नीति तदुपरान्त भक्ति, जो आत्म समर्पण और प्रेम के महाभाव से सम्पृक्त हो, तत्पश्चात् ज्ञान रससिक्त हो कर पूर्णता प्राप्त कर लेता है। ऐसे तो ज्ञान मार्ग की साधना कठिन है लेकिन भक्ति भाव से सिंचित होने के कारण वह सहज बन जाती है। अन्यथा ज्ञान की अहता भगवद् मिलन में बाधक हो सकती है। अत भक्ति के रसभाव को प्रधानता देते हुए व्यासजी मगलाचरण के प्रथम श्लोक के आत्मबोध से श्रीमद्भागवत का उपसहार करते हैं।

भागवत का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन और धर्म की व्यापक चर्चा करते हुए, प्रेम लक्षणा, रसमय भक्ति, व्यासजी का विशेष रूप से प्रतिपाद्य रहा है। यह भगवद् गुणानुवाद दैन्य भाव, आत्म निवेदन से ही सिद्ध होता है। भगवान श्रीकृष्ण की मधुरतम अलौकिक लीलाएँ, गोपिकाओं का अलौकिक प्रेम एवम् शरणागति के माध्यम से व्यासजी ने परम प्रेम स्वरूपा भक्ति का निरूपण किया है। यह अनुपम ग्रथ भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में अनुरक्ति की प्रेरणा देता है। उनका ध्यान, वदन और स्मरण हमारे जीवन में अध्यात्म का निवेश कराता है। भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र, उनका नाम और धाम सभी दिव्य एव मधुर है। श्री वल्लभाचार्य कहते हैं 'मधुराधिपतेनखिलम् मधुरम्' । यदि हमें उस परातत्व, परब्रह्म श्रीकृष्ण का दर्शन करना हो तो धर्म भक्ति और उनका आश्रय अत्यन्त आवश्यक है। श्रीमद्भागवत में व्यासपीठ पर विराजमान सूतजी भाव को निम्नलिखित श्लोक में उजागर करते हैं।

स वै पुसा परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।। (भा० 1 2 6)

अहैतुकी भक्ति द्वारा ही हम भगवान को प्रसन्न कर सकते हैं, उनका अनुग्रह प्राप्त कर सकते हैं। अपने सुख का चिन्तन न कर भगवान से प्रीति एव उनके सुख का निरन्तर चिन्तन ही प्रेम लक्षणा भक्ति का प्रथम सोपान है।

नारदजी ने भक्ति को परम प्रेमरूपा, परम अमृत स्वरूपा माना है। जिसे यह भक्ति उपलब्ध हो जाती है वह सिद्ध हो जाता है अमर हो जाता है तृप्त हो जाता है। उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। जो इस भक्ति को प्राप्त कर लेता है उसे कोई आकाक्षा नहीं रहती। वह शोक और हर्ष से उद्वेलित नहीं होता और सासारिक कार्यों

में अति उत्साही नही होता। जो भक्ति के मर्म को जान लेता है वह आनन्द मग्न हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम या प्रभु स्मरण में प्रभु के साथ रम जाता है। उसका एक मात्र आश्रय अपने प्रभु श्रीकृष्ण ही है।

ऐसी भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है ब्रज की गोपियाँ-' ब्रजगोपिकानाम्।'' (ना०भ०सू० 1/2) उन्होंने ही इस परम प्रेम स्वरूपा भक्ति का अमृत प्रेमास्पद किया है । शाडिल्य ऋषि भी भक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा हैं तत्सुखे सुखित प्रेम लक्षणम्''जो अपने प्रिय के सुख मे आनदित है वही प्रेम लक्षणा भक्ति का अनुभव कर सकता है। नरसी मेहता कहते हैं कि इस दिव्य रस की अनुभूति मात्र तीन लोगो ने की, शकर शुकदेव और ब्रजगोपिकाओं ने।

इस परम रस का श्रीमद् भागवत मे अपूर्व रूप से विवेचन हुआ है। इसीलिए इस महान् ग्रथ को परमहस सहिता कहते है। बल्लभाचार्यजी बृजागनाओं को प्रेम सन्यासिनी' कहते हैं। वे स्वय भगवान श्रीकृष्ण से गोपी या स्त्री भाव प्रदान करने का निवेदन करते हैं। सूरदासजी भी प्रार्थना करते हैं कि भगवान उन्हें ' बृजवनिता'' बना दे। परम पुरुष श्रीकृष्ण के समक्ष सभी जीव गोपी ही हैं।

यह अपूर्व रस श्रीकृष्ण के जन्म से ही विकीर्ण होने लगता है। श्रीकृष्ण की समस्त बाल लीलाएँ, बाल सुलभ चपल, नटखट, लीलाएँ सभी को रसमग्न कर देती हैं जैसे — माखन चोरी गौ चरावन, मटकी फोड़ना, दानलीला, आदि। उनकी पराक्रमी लीलाएँ बार-बार उनके दिव्य ऐश्वर्य की झाकी कराती हैं जैसे पूतना वध कालीय दमन अघासुर वकासुर, शकटासुर वध गोवर्धन धारण मृद्भक्षण में विराट रूप का मुँह में दर्शन आदि। इन दोनों प्रकार की लीलाओं के समन्वय से यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्ण का परम रसमय स्वरूप ऐश्वर्य की अनन्त विभूतियों से सम्पन्न है।

भक्ति का प्रेम स्वरूप वेणुगीत, युगलगीत गोपीगीत, रासपचाध्यायी एवम् भ्रमरगीत में उभर कर आता है। इसकी प्रेमानुभूति से मानव हृदय गद्गद् हो जाता है। इन गीतों में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम विह्वलता भक्ति में परिवर्तित हो जाती है जो अध्यात्म की चरम स्थिति में भगवद् साक्षात्कार का हेतु बन जाती है।

वेणुगीत नारद की वीणा के बारे में कहा जाता है कि वह ब्रह्म स्वर' से झकृत है। यहाँ श्रीकृष्ण का वेणुनाद शब्द ब्रह्म' के मधुर स्वर से निनादित है । श्रीकृष्ण की वशी ध्वनि,भगवान के प्रति प्रेमभाव एव उनसे मिलने की उत्कट आकाक्षा जगाने

वाली है। उसे सुनकर गोपियों का हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है और वे एकान्त में उनके रूप, गुण, वंशी ध्वनि के प्रभाव का वर्णन करने लगती हैं। परन्तु वंशी का स्मरण होते ही वे कृष्णमय हो जाती हैं। वे मन ही मन वहाँ पहुँच जाती हैं जहाँ कृष्ण हैं। उनकी वाणी उनके वर्णन में असमर्थ हो जाती है।

गोपियाँ मन ही मन कृष्ण के अत्यन्त मनोहर रूप का दर्शन करने लगती हैं जिसके श्रवण मात्र से वीतराग, परमहंस, समाधिस्थ शुकदेव का मन भी रसाभिसिक्त होकर भगवद् प्रेम में विह्वल हो गया।

> बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
> बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
> रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै
> र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः। भा० 10/21/5

श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं, उनके सिर पर मयूर पंख हैं और कानों पर कनेर के पीले-पीले पुष्प। शरीर पर सुनहला पीताम्बर और गले में पाँच प्रकार के सुगंधित पुष्पों की बनी वैजयन्ती माला है। ऐसे नटवर वेश में बाँसुरी के छिद्रों को अपने अधरामृत से भर रहे हैं। उनके पीछे ग्वाल बाल उनका कीर्तिगान करते हुए वृन्दावन को और भी रमणीय बना देते हैं।

इतना व्यापक है श्रीकृष्ण के वंशी स्वर का प्रभाव कि गोप-गोपिकाएँ, पशु-पक्षी, लता वृक्ष नदी सरिताएँ सभी प्रेम में पुलकित हो उठती हैं और भगवान की रस माधुरी का पान करने लगती हैं। समस्त चराचर एवं जड़ चेतन में कृष्ण की वंशी दिव्य रस का संचार कर देती है। वेणु तो भगवान की "नाम लीला" है। इसकी मधुर ध्वनि ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्रदान करने वाली है। "ब्रह्मानन्दादपि अधिक आनन्द सार मूला" *वह तो साक्षात् माया शक्ति ही है जो निखिल विश्व का संचालन करती है।* यह तो श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति ही है।

रासपंचाध्यायी एवम् गोपीगीत

रासपंचाध्यायी को भागवत का प्राण माना है। इसके पाँच अध्याय मानो पाँच प्राण ही हैं। यह जीव और ब्रह्म के मिलन की परम आध्यात्मिक लीला है। शरदोत्फुल्ल रात्रि में कृष्ण जब वृन्दावन में वंशी नाद करते हैं तो जिन-जिन गोपियों ने उसे सुना, वे जिस

कार्य में व्यस्त थीं उसे, उसी स्थिति मे अपना सर्वस्व छोड़ कर वन में चली गईं । यह उस साधक, सन्यासी के समान है जिसका हृदय वैराग्य की प्रदीप्त ज्वाला से परिपूर्ण हो। वैराग्य की परिपूर्णता और भक्ति की पूर्णता एक ही तत्व है। किन्तु जिन गोपियो ने वशीरव सुना, किन्तु जाने में असमर्थ थीं उनकी मिलन उत्कण्ठा, तीव्र विरह के सताप के कारण, प्रायश्चित् से परम पावन हो गईं। वे ध्यान मग्न होकर प्रभु-मिलन की समाधि में स्थित हो गईं। उन्हें सद्य भगवद् साक्षात्कार हो गया।

जो गोपिकाएँ वृन्दावन मे कृष्ण-मिलन हेतु चली गईं उन्होंने श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि वे गेह-नेह, पति, पुत्र आदि सबको छोड़कर चली आई हैं, फिर भी उनकी वासनाएँ, काम, क्रोध, मद इत्यादि उनके मन को निरन्तर सतप्त करते रहते है। वे भगवान से प्रार्थना करती हैं कि "आप अन्तर्यामी हैं, सबके अन्तर्तम भावो को जानते हैं अत अपना वरद हस्त हृदय एव मस्तिष्क पर रखें ताकि हमारी समस्त वासनाएँ भस्मीभूत हो जाए, हमारा चरित्र निर्मल एव पावन हो जाए"।

अर्जुन को विराट रूप दिखाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने उसे दिव्य चक्षु प्रदान किए जिससे वह उनके परम दैदीप्यमान रूप का दर्शन करके कृतार्थ हुआ। लेकिन प्रेम विह्वल व्रज गोपिकाएँ तो अपने हृदय में रहे षडदोषो से मुक्त होकर भगवान की अनन्त माधुरी का रसपान करना चाहती थी। अत वे सब धर्मो का परित्याग कर भगवान के श्री चरणों में नि सग से शरणागत हो चुकी थी। उनकी नि सग स्थिति एव प्रेम की उत्कट उत्कण्ठा को जान कर भगवान श्रीकृष्ण ने अहैतुकी कृपा करके उन्हें दिव्य हृदय प्रदान किया, जिसमे वे उनके अनन्त माधुर्य का रसपान कर सकें। ऐसा होते ही चतुर्दिक दिव्यता छा गई समस्त सृष्टि दिव्य हो गई। वृन्दावन, शरदोत्फुल्ल रात्रि, समस्त गोपीजन, पशु पक्षी सभी दिव्य आनन्द मे सराबोर हो गए। ऐसा लगता है सबके अन्तर्यामी परम प्रेम स्वरूप पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण अपनी ही आह्लादिनी शक्तियों की प्रतिमूर्ति गोपिकाओ के साथ रासरस की क्रीडा में आत्मरमण करने लगे। रासलीला में तो परब्रह्म श्रीकृष्ण भक्तो को अनन्त माधुर्य का दान करते है। इस देव दुर्लभ आनन्द की दिव्यानुभूति करते समय यदि गोपिकाओं में परितोष का सात्विक गर्व आ जाए, तो आश्चर्य की क्या बात है? यह तो अत्यन्त स्वाभाविक सा प्रतीत होता है । लेकिन गुणातीत भगवान भक्तों के प्रिय हृदय में सात्विक अह को भी प्रश्रय नही देते। वे तत्क्षण अन्तर्धान हो जाते है । गोपिकाएँ तीव्र वियोग की ज्वाला में जलने लगती हैं। वे पुन आत्म-निवेदन करती हैं। यह प्रसग भागवत में गोपीगीत के नाम से अभिहित है। गोपियों के हृदय विगलित आसुओ

मे उनका समस्त अहम् पिघल कर नि शेष हो जाता है। गोपिकाएँ कहती हैं -

> तव कथामृत तप्तजीवन
> कवि भिरीडित कल्मपापहम्।
> श्रवणमगल श्रीमदातत
> भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना ॥ (भा० 10/31/9)

विरह सतप्त लोगो के लिए आपकी कथा अमृत स्वरूप है। मनीपी कवि इसका सदा गान करते है - यह समस्त पापो को मिटाने वाली है। यह सुनने मे परम मगलमय है और सदा कल्याणप्रद है। इस भूलोक पर ऐसे मनीपी परम कृपालु होते है।

लगता है यह वियोग महासयोग का पोपक ही है। गोपियो के इस महाभाव व प्रेम विह्वलता को देखकर भगवान अन्तर्निहित न रह सके। वे अपने सपूर्ण माधुर्य के साथ पुन प्रकट हुए। गोपिकाओं को क्षमा करते हुए पुन रासलीला का अपूर्व आनन्द उन्हें प्रदान करते है। रामलीला मे श्रीकृष्ण और गोपिकाओ का मिलन ब्रह्म और जीवों का महा मिलन है। इसका आनन्द शब्दातीत है।
सूरदास कहते है -

> रास-रस रीति नहि बरनि आवै
> कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं
> कहाँ यह चित्तनिय भ्रम भुलावै।

रास का अर्थ ही है जहाँ रस का निरन्तर प्रवाह होता रहे।

गोपिकाओं को वह अमृत प्राप्त हुआ जो इस धरा पर उपलब्ध नही है। यह अधरामृत तो दिव्य रस की सतत् अनुभूति है। जिस व्यक्ति को इसकी लवणिका भी प्राप्त हो जाय, वह रस विभोर होकर तृप्त हो जाता है। फिर गोपिकाओ का तो कहना ही क्या। रास नृत्य ऐसा लगता था मानो रस समुद्र मे सरिता रूपी नदियाँ उमड़-उमड़ कर समाती जाती हैं। यह लीला आज भी उसी वेग से चल रही है क्योकि यह नित्य लीला है। सूरदासजी ठीक कहते है उस रस समुद्र के सामने अब न सुहाय विपय रस छीलर वा समुद्र की आस' समस्त जीव, जगत् एव ब्रहम एक होकर परम रस रूप हो जाते हैं यही अद्वैत और द्वैत का समन्वय है। भगवान श्रीकृष्ण तो घनीभूत रस है जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड समा जाता है। अलग-अलग गोपियाँ अलग-अलग ढग से श्रीकृष्ण का गुणगान करती

हैं। अन्ततोगत्वा वे कृष्णमय हो जाती हैं। रास मडलाकार है। यह तो प्रभु का है जिससे निखिल ब्रह्माण्ड गतिशील और नृत्यरत है। समस्त शक्तियाँ इस पवित्र मडल से परिसीमित होकर आनन्द का अजस्र स्रोत बन जाती हैं। यही रास रहस्य है। समस्त सृष्टि ही भगवान की लीला है या राम लीला है।

युगलगीत

जब-जब भगवान श्रीकृष्ण ग्वाल बाल के साथ गोचारण करने जाते है तब गोपिकाए घर के कार्य करती हुई उनकी माधुरी का निरन्तर गुणगान करती रहती हैं। भगवान श्रीकृष्ण का लालित्यपूर्ण एव दार्शनिक परिवेश सभी इन युगल गीतो मे समाहित है। गीत गाती-गाती वे इतनी कृष्णमय हो जाती हैं कि शुकदेवजी इस महाभाव का वर्णन करते है

एव व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायती ।
रेमिरेऽह सु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदया ॥ (भा० 10/35/26)

अर्थात् सभी व्रज की स्त्रियाँ श्रीकृष्ण लीला का गान करती थीं और उसी में रम जाती थी। इस प्रकार उनके दिन बीत जाते थे।

भ्रमरगीत

भ्रमरगीत में भक्ति एवम् ज्ञान का अपूर्व समन्वय होता है। कृष्ण अक्रूरजी के साथ वृन्दावन से मथुरा चले जाते हैं। कस के सहार के बाद वे चौदह वर्ष मथुरा मे रहते हैं। इसी अवधि में वे अपने प्रिय सखा एवम् मन्त्री प्रवर उद्धव को गोपिकाओं को ज्ञानोपदेश देने के लिए वृन्दावन भेजते हैं। ज्ञान मूर्ति उद्धव ब्रह्म के सत्य ज्ञान अनन्तम् ' का साक्षात्कार कर चुके थे। कृष्ण उन्हें रसतत्व का बोध कराना चाहते थे। उद्धव मगलाचरण के प्रथम श्लोक सत्य पर धीमहि ' की अनुभूति कर चुके थे। कृष्ण उन्हें निगम कल्पतरोर्गलित फलम् 'का आस्वादन करवाना चाहते थे। उद्धव की जब गोपिकाओ से भेंट हुई एव उनके रससिक्त महाभाव को उन्होंने देखा तो वे स्तभित रह गए। उन्हें पहली बार बोध हुआ कि जिस मधुर रस की अनुभूति गोपिकाएँ कर चुकी हैं वह भक्ति मुनियो को भी दुर्लभ है। भक्ति प्रवर्तिता न्द्रिया मुनीनामपि दुर्लभा" (भा० 10/47/24) यह तो अध्यात्म की उच्चतम स्थिति है जहाँ ज्ञान का प्रकाश एवम् भक्ति का रस घुल मिलकर एक हो जाता है।

उद्धव अनुभव करते हैं कि गोपिकाएँ तो समस्त लोक में पूज्य हैं क्योंकि उन्होंने

अपना सर्वस्व वासुदेव को समर्पित कर दिया है। उनका तो सारा जीवन दिव्य हो गया है क्योंकि वे सारे कार्य भगवद् प्रीत्यर्थ ही करती हैं। गोपियों की परम भगवदीय स्थिति देखकर उद्धव श्रद्धानत हो जाते हैं। उनका ज्ञान रसमय हो जाता है। सत्य ज्ञान अनन्तम् ब्रह्म का स्वरूप भी पूर्ण परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है। यही भागवत का प्रतिपाद्य है। उद्धव प्रार्थना करते हैं -

आसामहो चरण रेणुजुषामहं स्या
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
यादुस्त्यज स्वजनमार्यपथ च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।। (भा० 10/47/61)

मेरे लिए यह अच्छी बात होगी कि मैं वृन्दावन में कोई लता या जड़ी बूटी बन जाऊँ जिससे बृजागनाओं की चरण धूलि मुझे निरन्तर मिलती रहे। धन्य हैं ये गोपियाँ जिन्होंने अपने स्वजन - सम्बन्धियो का परित्याग कर दिया जिन्हे छोड़ना अत्यन्त कठिन है। इन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के साथ तन्मयता प्राप्त कर ली है जिन्हें श्रुतियाँ प्राप्त करने में असमर्थ है।

गोप वेष धारण कर उद्धव श्रीकृष्ण के पास लौटते है। अपने सखा उद्धव का यह दिव्य वेष देखकर श्रीकृष्ण अति आनदित होते है। ज्ञान और परम प्रेम स्वरूपा भक्ति का सम्यक् समन्वय उद्धव मे परिलक्षित होता है। श्रीकृष्ण अपना अतिम उपदेश उद्धव को ही देते हैं। वह ज्ञानमयी भक्ति का है जिसका अनुकरण करने से मानव जीवन पूर्णता प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। जैसे जैसे हम भागवत के अन्तिम अध्याय मे पहुँचते है व्यासपीठ पर आसीन सूतजी भागवत की विलक्षणता की ओर ध्यान आकर्षित करते है। श्रीमद् भागवत तो परमहसों के पवित्रतम ज्ञान का मधुरतम गान है जिसमें सभी निष्काम कर्म ज्ञान और वैराग्य, भक्ति मे सम्बन्धित हो जाते हैं। सूतजी भागवत के समापन के पूर्व व्यासदेव विरचित मगलाचरण के प्रथम श्लोक का स्मरण कराते हुए कहते है ' हम सब उसी परम सत्य स्वरूप अमृतमय परमेश्वर का ध्यान कर रहे हैं जिस के निकट शोक और मृत्यु का आगमन नहीं होता।' तच्छुद्ध विमल विशोकममृत सत्य पर धीमहि (भा० 12 13 19) अत परम सत्य के ध्यान से भागवत प्रारभ होता है और सत्य पर धीमहि से ही समापन। अन्त में सूतजी भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं हे देवताओं के आराध्य देव सर्वेश्वर। आप ही हमारे सर्वस्व और एक स्वामी है। आप ऐसी कृपा कीजिए कि बार बार जन्म ग्रहण करते रहने पर भी हमारी भक्ति सदा आपके

चरणों में बनी रहे"।

' भवे भवे यथा भक्ति पादयोस्तव जायते" (भा० 12 13 22) जिनके नाम सकीर्तन से समस्त पापों का नाश हो जाता है और ससार के दुखो का शमन हो जाता है उन हरि को प्रणाम करते हुए श्रीमद् भागवत का उपसहार होता है।

> "नाम सकीर्तन यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
> प्रणामो दु ख शमनस्त नमामि हरिं परम्।।" (भा० 12 13 23)

भागवत में व्यापक परिधि में अध्यात्म के सभी अग निरूपित हुए हैं। इस में ज्ञान, धर्म भक्ति, सकाम कर्म, निष्काम कर्म, साधन ज्ञान, सिद्ध ज्ञान साधन भक्ति, साध्य भक्ति प्रेमा-भक्ति, मर्यादा मार्ग, अनुग्रह मार्ग, साख्य योग, वेदान्त के सभी पक्ष, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत व द्वैत आदि का परम रहस्य पूर्ण मधुरता के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

श्रीमद् भागवत के सयोजन में व्यासजी ने कथाओं, रूपको प्रतीको, सवादों एवम् गीतों का विपुल प्रयोग करते हुए सभी विचार धाराओ में विलक्षण समन्वय स्थापित किया है। अत्यन्त दुरुह विषयों को रसात्मकता से प्रतिपादित किया है। भागवत तो वास्तव में वेदों का अमृत फल है जिस में रस ही रस है। यह तो भगवान श्रीकृष्ण का रसमय विग्रह है, श्रीकृष्ण ही रस और रसेश है। वे तो 'रसो वै स' हैं।

रसो वै सः

भारतीय तत्व चिन्तन में समस्त सृष्टि का आधार ब्रह्म है। वही इस सृष्टि का निमित्त एवम् उपादान कारण है क्योंकि वह स्वय ही सृष्टि बना है।

सोऽवेत्, अह याव सृष्टिरस्मि, अह हीद सर्वम् सृक्षीति, तत सृष्टिरभवत्, सृष्ट्या हास्यै तस्या भवति य एव वेद।। (वृ० उ० 1 4 5)

इसीलिए वह स्वय ही सृष्टि और उसके स्रष्टा हैं।

ब्रह्म की तात्विक व्याख्या करते हुए , तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रसिद्ध मत्र उल्लेखनीय है। सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म"(तै०उ०2 1 1) ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है और अनन्त है। सत्य को छान्दोग्य उपनिषद् ने परिभाषित किया तत् सत्य स आत्मा ' (छा०उ० 6 16 3) इससे स्पष्ट हो जाता है यह आत्मा सत्य है और अनन्त है। अनन्त का अर्थ ही है जो देश, काल और वस्तु से बाधित न हो। सत्य और अनन्त शब्द के साथ साथ ब्रह्म् के लक्षण के रूप में ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है। ज्ञान यहाँ ब्रह्म की सर्वज्ञता का द्योतक है। इस प्रकार ब्रह्म व आत्मा सत्य ज्ञान अनन्तम्' है।

ब्रह्म को सृष्टि सरचना की आवश्यकता क्यों पड़ी ? उपनिषद् कहता है वह एकाकी रमण नहीं कर पाता है इसलिए उसकी एक से अनेक होने की इच्छा हुई स य नैव रेमे तस्मात् एकाकी न रमते , स द्वितीयमैच्छत् 'ब्रह्म् की यह इच्छा या सकल्प ही सृष्टि

है। यह सृष्टि उसकी क्रीडा है। क्रीडात्वेनखिल जगत्'' यह क्रीडा ही उसका आनन्द है।

''सत्य ज्ञान अनन्तम्'' के साथ-साथ तैत्तिरीय उपनिषद् ने ब्रहम को आनन्द स्वरूप माना है। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभि सविशन्तीति (तै०उ० 3 6 1) अर्थात् आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं क्योंकि ब्रह्म स्वय आनन्द हैं। श्री वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) कह कर निरूपित किया है। सारी दृष्यमान सृष्टि सत् है। अन्तर्यामी के रूप में चित या चैतन्य है। इसका स्वरूप उपरोक्त श्रुति के अनुसार आनन्द है। अत ब्रह्म सत् चित् आनन्दघन है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को चिर विश्रुत आनन्द शब्द के पर्याय के रूप में 'रस रूप'' कह कर अन्य श्रुति में विवेचित किया है। रस शब्द के आ जाने से ब्रह्म के आनन्द के रसास्वादन का नया आयाम सामने आता है। उक्त उपनिषद् का मन्त्र उद्धृत है

> यद्वै तत्सुकृत रसो वै स॰ ।
> रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति।
> को ह्येवान्यात्क प्राण्याद् यदेष आकाश
> आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।तै०उ०2 7 1

भावार्थ निश्चय ही वह सुकृत है- अपने आप उत्पन्न हुआ है, सभी कारणों का कारण यही है। स्वयभू है। इस रस को प्राप्त कर सभी आनन्दित होते हैं। यदि वह हृदयाकाश में स्थित आनन्द स्वरूप आत्मा न होता तो कौन होता? कौन जीवित रह सकता या प्राणों की क्रिया करता। यही उन्हें आनन्द प्रदान करता है। इस आनन्द को कौन प्राप्त कर सकता है इसे उपनिषद् ने स्पष्टतया समझाया है। वह साधु स्वभाव वाला नवयुवक, स्वाध्याय करने वाला अत्यन्त आशावान, निराश न होने वाला अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एव *उसी की धन धान्य पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी हो- उसका जो आनन्द है वही मनुष्यलोक* का एक आनन्द'' है। (तै०उ०2 7 1)। ऐसा विलक्षण है यह आनन्द-रस जो इसे प्राप्त कर लेता है वह आत्माराम हो जाता है। आनन्द मग्न हो जाता है वह स्तब्ध हो जाता है। मन और वाणी दोनों वहाँ से लौट आते हैं। वे इसे प्राप्त नहीं कर सकते। जो ब्रह्मविद्या के इस आनन्द की अनुभूति कर लेता है वह सदैव निर्भय रहता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति।। (तै०उ० ४ २)

'रस' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हुई है। रस रस्यते, आस्वाद्यते इति रस ' जिसका स्वाद आनन्द देता है वह रस है।" दूसरी व्युत्पत्ति है — सरति इति रस " जो तरल है, द्रवित है और प्रवहमान है वह रस है। कैसा है इस रस का स्वाद जिसे प्राप्त कर व्यक्ति आनन्दमय होता है? यह ही 'अमृत द्रव सयुतम्' है जो अत्यन्त मधुर है। उपनिषद् के ऋचाकारों ने इस आध्यात्मिक अनुभूति का 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म' मे दर्शन किया और आनन्द स्वरूप रसो वै स ' के माधुर्य का रसपान किया। यह रस वास्तव मे मधु' ही है। बृहद् आरण्यक उपनिषद् ने ब्रह्म के मधुस्वरूप का सविस्तार वर्णन किया है। यह आत्मा ही मधु है। समस्त भूतों मे यह मधु है और सर्वभूत इसके लिए मधु है। अत आत्मा का स्वरूप अत्यन्त मधुर है-मधुमय है।

अय आत्मा सर्वेषा भूताना मधु।
अस्य आत्मन सर्वाणि भूतानि मधु।। (वृ०उ०3 3 14)

सच्चिदानन्द जब द्रवित होते हैं तो वह रस रूप में प्रवहमान हो जाते हैं। वे सबको अपना रस या मधु दान करने लगते है। ऐसा विलक्षण है यह हरि लीला का मधुमय अमृतरस। इसका पान कर क्या कोई भी कभी तृप्त होता है?

''रसज्ञ कोनुतृप्येते हरिलीलामृतपिबन् '' (भा०3 30 6)

श्रीरामकृष्ण कहते थे खेते खेते भालो लागे ' । जितना इस मधु का रसास्वादन किया जाए वह अत्यन्त आनन्दप्रद होता है इसमे कभी तृप्ति नहीं होती। यह मधु निरतिशय आनन्द प्रदान करता है। जहाँ ध्यानावस्था में सत्य, ज्ञान, अनन्त का दर्शन होता है आत्मबोध होता है वहाँ सवेदनशील हृदय मे ब्रह्म के आनन्द स्वरूप रसो वै स के माधुर्य की अनुभूति होती है। अत तैत्तिरीय उपनिषद् की दोनों श्रुतियाँ ब्रह्म के ज्ञान रूप और रसका वर्णन करती हैं। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद्कार का मन्तव्य, रसमय ज्ञान ही ब्रह्म है और वह मधु स्वरूप होने के कारण अत्यन्त मधुर है। ब्रह्म के इन तीनों रूपो का दर्शन भगवान श्रीकृष्ण के अवतार मे पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होता है। उनका प्राकट्य या मनुष्य रूप मे अवतरित होना अत्यन्त विलक्षण है। वह ज्ञान-प्रदीप्त, रसमय और पूर्ण माधुर्य से सम्पन्न है। जीव के प्रति करुणा एव अनुग्रह प्रदान करने के लिए भगवान अवतार ग्रहण करते है। इस मे परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वेच्छया अपने अनन्त स्वरूप को सीमित कर

मानव देह धारण करते हैं। अपने निरजन निराकार रूप को सगुण साकार रूप में, परम आकर्षक विग्रह स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्ण तो सभी को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ' कर्षयति इति कृष्ण "।

अवतार का हेतु भगवान के अवतरण का मूल भूत हेतु होता है मानव का उन्नयन। ऐसा लगता है कि वे मनुष्य को दिव्यत्व प्रदान करने के लिए स्वेच्छया मनुष्यत्व स्वीकार करते हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि जब-जब समाज में धर्म का तिरस्कार होता है और अधर्म का व्यापक प्रसार होता है तब-तब वे धर्म के अभ्युत्थान के लिए युग-युग में अवतार ग्रहण करते हैं, वे धर्म परायण सज्जन लोगों का सरक्षण करते हैं और दुष्कृत्य करने वालों का विनाश कर पुन धर्म का सस्थापन करते हैं। धार्मिक, नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यों को पुन प्रतिष्ठित कर समाज को धर्म मय एव उदात्त बना कर अनुकरणीय आदर्श सस्थापित करते हैं। लेकिन अवतार का एक और महत्वपूर्ण हेतु है जिसका श्रीमद् भागवत में निरूपण हुआ है वह है आनन्द प्रदान करना, सृष्टि में पुन रस का सचार करना। इस हेतु को श्रीकृष्ण यशोदानन्दन के रूप मे सम्पन्न करते हैं। वे अपनी मधुर लीलाओं के माध्यम से नन्द यशोदा गोप, गोपिकाएँ आदि सभी को आनन्द प्रदान करते हैं। आनन्द जैसे कहा गया है रस का ही पर्याय है। यह रस अत्यन्त मधुर है, अमृत रस है।

भगवान श्रीकृष्ण स्वय अखण्डरसामृत मूर्ति' हैं। वे परात्पर ब्रह्म हैं। उनकी सभी लीलाएँ माधुर्य से ओत प्रोत हैं। भगवान स्वय के अधिपति होने के कारण उनका सर्वस्व मधुर है। उनकी सभी लीलाएँ माधुर्य प्रदायिनी हैं। वे स्वय रस एव रस के भोक्ता, रसेश हैं। अध्ययन हेतु माधुर्य को छ रूपों में विवेचित किया है जो रस ज्ञान एव माधुर्य से परिपूर्ण है। जिस माधुर्य से श्रीकृष्ण ने समस्त ब्रज मण्डल को अपनी मधुर लीलाओं के मधु से आप्यायित किया वे हैं - रूप माधुर्य वेणु माधुर्य, प्रेम माधुर्य, वात्सल्य माधुर्य सख्य माधुर्य और लीला माधुर्य। ऐसे वात्सल्य माधुर्य और सख्य माधुर्य में प्रेम माधुर्य की ही प्रधानता है। इन लीलाओं का विवेचन करना समीचीन होगा। एक एक लीला भगवान श्रीकृष्ण के रसो वै स स्वरूप को चरितार्थ करती है।

रूप माधुर्य श्रीकृष्ण की रूप माधुरी पर सारा वृन्दावन मुग्ध है। बालक कृष्ण के जन्म पर नन्द यशोदा को बधाई देने वाली गोपिकाएँ श्रीकृष्ण के रूप को देखकर मुग्ध हो जाती हैं। उन्हें ऐसा लगता है मानो करोड़ों चन्द्रमाओं की छवि एक साथ घनीभूत होकर श्रीकृष्ण के रूप में आलेकित हो उठी है।

बालक कृष्ण का नवनीत हाथ में लिए घुटुरन पर चलना कितना मनोहारी है, इस शोभा का वर्णन सूरदास कितनी चित्रात्मकता से करते हैं—

> सोभित कर नवनीत लिए।
> लट लटकनि मनु मत्त मधुपगन, मादक मधुहि पिए,
> धन्य सूर एकोपल इहि सुख का सत कल्प जिए।।

ऐसे सौन्दर्य को निरखने का यदि एक पल भी मिल जाय तो मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। उस सुख के समक्ष शतकल्प जीने का सुख भी अर्थ हीन है।

गोपिया श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का दर्शन करने के लिए सदा लालायित रहती थीं। वे उन्हे देखने का कोई न कोई बहाना बना ही लेती थीं। जब श्रीकृष्ण उनके घर मे माखन चोरी करते थे तो वे लुक छिपकर उनका दर्शन किया करती थीं और उनके अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती थीं।

श्रीकृष्ण की रूप माधुरी इतनी आकर्षक थी कि जब वे अपना प्रतिबिम्ब रत्न जटित खम्भे में देखते तो वे स्वय अपनी रूप माधुरी पर मुग्ध हो जाते थे और आश्चर्य चकित होकर यशोदा से पूछते ' मा यह सुन्दर बालक कौन है?' इतना मोहक था श्रीकृष्ण का रूप माधुर्य कि सब लोगो के चित्त के साथ वे अपने चित्त को भी हरण कर लेते है "आत्म पर्यन्त चित्तहर।"

श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का दर्शन और अमृत माधुरी का श्रवण कर विस्मित हो जाते है गोविन्द स्वामी। वे अपनी विवशता व्यक्त करते हैं। दो नयन दो कान उनके रूप एव वाणी के माधुर्य को ग्रहण करने में अक्षम है। दो भुजाएँ भी उनसे गले मिलने मे सहायक नही हो सकतीं।

> विधाता विधु हूँ न जानी।
> सुन्दर बदन पान करिबे कू रोम रोम प्रति नयन न दीन्हें
> करी यह बात अदानी।।
> स्रवन सकल वपु होत री मेरे, सुनती प्रिय मुख अमृत मधुवानी
> मेरे भुजा होत री कोटिक, तो हौं भेंटति गोविन्द प्रभु सों
> तऊ न तपन बुझानी।।

श्रीकृष्ण का नटवर नवलकिशार रूप तो सबका चित्त हर लेता है। जिसने एक

बार इस अलौकिक 'रसमयी माधुरी'' का दर्शन कर लिया वह आनन्द विभोर हो जाता है। ''स आनन्दी भवति''।

वेणु माधुर्य श्रीकृष्ण की विलक्षण वेणु में नाद ब्रह्म और शब्द ब्रह्म का अद्भुत समन्वय हुआ है। इसके रसवर्षी-मधुर स्वर चर-अचर सारी सृष्टि को माधुर्य मे सराबोर कर देते हैं। भगवान श्रीकृष्ण का वेणुनाद जीवा को ब्रह्म से मिलने का मधुरतम आह्वान है। जो इसे सुन लेता है वह अपनी सुधबुध खोकर भगवान की नाद माधुरी मे आनन्द में मानो समाधिस्थ हो जाता है। इस दिव्य वेणुनाद का जो प्रभाव गोपियो पर पड़ा उसका अत्यन्त मनोहारी वर्णन सूरदास करते हैं —

> जबहि बन मुरली स्रवन पड़ी।
> चक्रित भई गोप कन्या सब, काम धाम बिसरी।।
> कुल मर्जाद वेद की आज्ञा, नेकहु नहीं डरी
> जो जिहि भाति चली सो तेसेहि निसि बन कों जुखरी।
> सुत, पति, नेह, भवन, जन, सका, लज्जा, नाहि करी
> सूरदास प्रभु मन हर लीन्हों, नागर नवल हरी।।

वेणुनाद रसो वै स श्रीकृष्ण का जड चेतन मे रसोद्रेक करने वाला मधुरतम नाद है। यह भगवद् अनुग्रह की ध्वनि है जो जीव को भगवद् मिलन के लिए व्याकुल कर देती है। श्रीकृष्ण का वेणु नाद सुनकर एक गोपी इतनी व्याकुल हो जाती है कि वह कृष्ण से अनुरोध करती है कि वह वेणु बजाना तुरन्त बन्द कर दे। क्योकि रसोई करते समय जलती हुई ईंधन की लकड़िया सहसा रसोद्रेक करने लगती है और आग बुझ जाती है जिससे वह रसोई नही बना पाती। सवेदनशील गोपी तडप उठती है और कहती है कि यदि जलते हुए जड काष्ठ की यह दशा है तो हम तो चैतन्य सवेदनशील प्राणी है हम पर क्या बीतती होगी? क्यो हमे विरहानल मे जलाते हो? हम मे भी तो आपके इस अनुपम रस माधुर्य का उद्रेक कर सकते हो।'' इसलिए भाव विह्वल होकर वह कृष्ण को वशी बजाने के लिए मना कर देती है।

> मुरहर रधनसमये मा कुरु मुरली रव मधुरम्।
> नीर समेधो रसता कृशानुरप्येति कृशतरताम्।।

वेणुनाद का मधुर स्वर-विन्दु तो माधुर्यामृत का अपार सिन्धु है। वेणु वास्तव म आनन्द रसघन ब्रह्म ही है। श्रीकृष्ण वशी बजाते समय स्वय अपने आप पर मुग्ध हो जाते है

और अपने रस में लीन होकर आनन्द विभोर हो जाते हैं। गोपियाँ श्रीकृष्ण रूपी नाद समुद्र के सम्मुख उमगती हुई सरिताओं की तरह घुल मिल जाती हैं।

श्रीकृष्ण के वेणुनाद से सारी सृष्टि पुलक उठती है। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा जाता है। वेणु भगवान श्रीकृष्ण की लीला माया या विद्या माया है जिसकी रसमयी नाद माधुरी जीव को ब्रह्म से मिलाने में सहायक सिद्ध होती है। यह वंशी का ही चमत्कार है कि गोपियों मे उमड़ती हुई कामनाओं का अपशमन कर उन्हें रमेश्वर श्रीकृष्ण से रास लीला में मिलन करा देती है। भगवद् अनुग्रह प्राप्त कर वे कृष्णमयी हो जाती हैं।

मुरली का मधुर नाद सबको आनन्दित कर देता है। मानो समाधि का अनुभव करत हैं। अपार है वेणु माधुर्य की महिमा यह तो विश्वविजयिनी है। श्रीकृष्ण प्रेम के विजय का उद्घोष है।

''वंशी ध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य''

प्रेम-माधुर्य भगवान श्रीकृष्ण का अवतार सर्वत्र प्रेम-माधुरी विकीर्ण करता है। ब्रज के विशुद्ध प्रेम के वशीभूत होकर वे अपने षड्ऐश्वर्य स्वरूप को विस्मृत कर नन्द यशोदा गोप-गोपिकाओं ग्वाल-बाल सब को अपूर्व प्रेम-माधुर्य प्रदान करते हैं। परब्रह्म पुरुषोत्तम होते हुए भी वे भक्ताधीन हो जाते हैं। गोप कन्याएँ सामान्य प्रलोभन देकर नटवर श्रीकृष्ण को नाच नचाती हैं—

नारद से सुक व्यास रहौ, पचि हारे तउ पुनि पार न पावें
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पे नाच नचावें'' —रसखान

गोपियों को प्रसन्न करने के लिए ही वे माखन चोर बनना पसद करते हैं अन्यथा नन्दबाबा के यहाँ भी तो अपार गा धन था। उनके यहाँ कौन से माखन की कमी थी। गोपिकाएँ स्वय चाहती थीं कि श्रीकृष्ण उनके यहाँ माखन चोरी करने आएँ और उनके घर के नवनीत का आस्वादन कर उन्हें कृतार्थ करें। इसी निमित्त वे अपने प्रिय श्याम सुन्दर का दर्शन कर सकेंगी। वे तो किवाड़ की ओट से उनका दर्शन कर अपने नयनों को सफल बनाती थीं धन्य हो जाती थीं। वे जानती हैं कि उनके हित के कारण श्रीकृष्ण ने माखन चोर बनना स्वीकार किया। वास्तव में यह माखन तो गोपियों का मन ही है जिसे वे विविध लीलाओं से आनन्द प्रदान करते हैं।

वृन्दावन में प्रेम माधुरी इतनी मोहक है कि इसके समक्ष स्वर्ग का सुख भी अत्यन्त

तुच्छ लगता है। परमानन्ददास कहते हैं "मैं तो ब्रज रज छोड कर स्वर्ग नही जाऊगा" —

कहा करौं वैकुण्ठ कि जाय ?
जहाँ नहिं नद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहाँ गोपी ग्वाल न गाय ।।
जहाँ नहिं जल जमुना को निरमल और नहीं कदमन की छाय।
''परमानन्द'' प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज रज तज मेरी जाय बलाय ।।

श्रीमद् भागवत में प्रेम माधुर्य अपनी चरम सीमा पर अभिव्यक्त हुआ है। भक्त हृदय में प्रेम निरन्तर तरंगायित रहता है। कभी-कभी ऐसा लगता है, क्या मानव हृदय, इस अपार दिव्य प्रेम को समाहित कर पायेगा ? घट मे तो सिन्धु नहीं समा सकता। "घट न सिन्धु समाय"। इस प्रेम राशि को ग्रहण करने के लिए हृदय भी दिव्य होना चाहिए। वेणुगीत, गोपीगीत युगलगीत एव भ्रमर गीत मे प्रेम-माधुर्य, पूर्ण रूप से अभिव्यजित हुआ है। श्रीकृष्ण लीला में प्रेम और माधुर्य सर्वत्र व्याप्त है। कवि कहता है — राधा कृष्ण-कृष्ण रटते-रटते स्वय कृष्ण बन गई और राधा के विरह मे व्याकुल होने लगती है —

श्यामा श्याम - श्याम रटत, श्यामा श्याम भई
अपनी सखी सों यों पूछत है श्यामा कहा गई ? ।

प्रेम माधुर्य की जितनी भी विशेषतायें हैं उनकी सूक्ष्म अनुभूतियो को श्रीमद्भागवत ने अभिव्यजित किया है। इसका प्रभाव परवर्ती साहित्य पर विपुल है उसकी अविच्छिन्न धारा आज भी प्रवहमान है। साहित्यकारो ने रस एव तत्व पर विशद विवेचन किया है विगत दो हजार वर्षों से भारतीय काव्य रस-माधुरी से आप्यायित है।

वात्सल्य माधुर्य यशोदा और कृष्ण का प्रेम अलौकिक है। वैष्णव कवियो ने विशेष रूप से सूरदास ने इस माधुरी पर इतने सरस पद लिखे हैं कि वात्सल्य रस वास्तव मे एक नए रस के रूप में उभर कर आता है। यशोदा का दुलार एव अपूर्व प्यार श्रीकृष्ण को निरन्तर प्राप्त है। उनकी हर बाल चपल नटखट लीला को देखकर वह सदा आनन्द मग्न रहती है। सूरदास ने मा के हृदय में उमड़ते हुए प्यार का जो मधुर एव हृदय स्पर्शी वर्णन किया है वह सभवत सारे विश्व साहित्य में कम देखने में आता है। श्रीकृष्ण को प्रातःकाल जगाने से लेकर रात को सुलाने तक के पद अत्यन्त रस-सिक्त भावो से परिपूर्ण हैं। श्रीकृष्ण की बाल माधुरी के आनन्द से सारा गोकुल अपितु सारा ब्रज आप्लावित है। सूरदास कहते हैं-श्रीकृष्ण का घुटरुन चलना चन्द्र खिलौने के लिए मचलना, नन्दबाबा की गोद में बैठकर कलेवा करना एव सभी बाल लीलाओं का वर्णन प्रेम, माधुर्य एव

रस भाव से परिपूर्ण है। श्रीकृष्ण के मुह में प्रथम दूध के दाँत को देखकर नन्द एव यशोदा आनन्द में खो जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे श्रीकृष्ण का दिव्य रूप देखकर वे प्रेम मग्न हा जाते हैं, अपने तन की सुधि भूल जाते हैं।

> सुत मुख देखि यसोदा फूली
> हर्षित देख दूध की दतियाँ प्रेम मगन तन की सुधि भूली।
> आनन्द सहित महर जब आए मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
> सूरस्याम किलकित द्विज देख्यो, मनो कमल पर बिज्जु जमाई॥

कपटी पूतना जब श्रीकृष्ण को विष अनुलेपित स्तन पान कराने के लिए उठाती है तो वह उनके रूप माधुर्य पर मुग्ध तो होती ही है पर एक क्षण के लिए उसमें मातृत्व का वात्सल्य भाव उजागर हो जाता है। वह श्रीकृष्ण को चूमती है, अपने कठों से लगाकर मातृत्व के भाव से आनदित हो उठती है। उसमें वात्सल्य रस प्रदीप्त हो जाता है और वह यशोदा के सुभाग्य को सराहने लगती है।

पूतना की कुटिलता के लिए तो उसको प्राण गवाना पड़ा। लेकिन उसके हृदय में उमड़ते हुए वात्सल्य रसभाव के लिए श्रीकृष्ण ने उसको वह गति दी जो माता के अनुरूप हो। पूतना राक्षसी थी स्तनो पर विष लगाकर आई थी, फिर भी उसका दूध भगवान ने प्रेम से पिया था इसलिए उसे स्वर्ग मे जननी की गति प्रदान करते है—

> यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्
> कृष्ण भुक्त स्तन क्षीरा किमु गावो नु मातर (भा० 10 6 38)

वात्सल्य रस के पदो से सूर सागर परिपूर्ण है। हर पद नए नए भावों को अभिव्यजित करता है।

सख्य माधुर्य श्री कृष्ण की लीला माधुरी में उनका मैत्री भाव उदात्ततम रूप में निखर उठता है। व्रज के सखाओं के साथ वे बड़े ही उन्मुक्त भाव से खेलते थे। सुबह से ही वे उनके साथ गो चारन के लिए निकल जाते और बड़ी तन्मयता से उनके साथ विभिन्न खेल खेलते थे। इतनी आत्मीयता थी उनकी अपने सखाओं के साथ वे सदा उनकी सुख-सुविधाओ का ध्यान रखते थे। बार बार उनकी रक्षा के लिए उन्हें कस के भेजे हुए कई राक्षसों का वध करना पड़ा - अघासुर, वकासुर शटकासुर तृणासुर आदि। श्रीदामा मनसुखा रैता पैता आदि गोप बालक उनके प्रिय सखा थे। एक बार खेल-खेल

में गद यमुना में गिर गई। वे तुरन्त गेंद लाने के लिए भयावह यमुना में कूद पड़े और विषैले नाग का दमन करके गेंद बाहर ले आए। सूरदास एव अन्य अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण और उनके सखाओं के साथ खेल कूद का बड़ा सजीव एव रसात्मक वर्णन किया है।

"ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाही" का दृश्य देखते ही बनता है। उनके निश्छल प्रेम में कितनी आत्मीयता है। मथुरा जाने के बाद इन गोप सखाओं के प्रेम की स्मृति में श्रीकृष्ण बार-बार विह्वल हो जाते हैं।

सुदामा के साथ उनकी पुरानी मैत्री थी। श्रीकृष्ण के द्वारकाधीश बनने के पश्चात्, सुदामा विपत्ति के मारे उनसे मिलने जाते हैं तब कृष्ण उनका अत्यन्त भाव भीना स्वागत करते हैं। उन्हें अपने सिहासन पर बैठाते हैं। उनके पैर में चुभे हुए एक-एक काटे को निकालते हैं और अपने हाथों से उनका पाद प्रक्षालन करते है। कवि नरोत्तमदास इसका अत्यन्त सवेदनशील वर्णन करते हैं

देख सुदामा की दीन दशा
करुणा करके करुणा निधि रोए
पानी परात को हाथ छुयो नहीं
नयनन के जल से पग धोए।।

तत्पश्चात् सुदामा की भाग्यश्री चमक उठती है। कुटिया के स्थान पर राजमहल में रहने लगता है। राजसी वैभव व समृद्धि से सम्पन्न हो जाता है।

इसी सख्य भाव से प्रेरित होकर वे महाभारत युद्ध में अपने प्रिय सखा अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार करते हैं और उसे विजयी बनाने का सकल्प करते है और अनुग्रह के रूप में उसे अपना विराट स्वरूप दिखा कर उसे उपकृत करते हैं। साथ ही गीता का शाश्वत सदेश सुनाकर उसे खोई हुई अस्मिता प्रदान करते हैं। इनका दिव्य सवाद भी निखिल मानवता के लिए प्रेरणास्पद है।

उद्धव के साथ भी श्रीकृष्ण की अपूर्व मैत्री एव सख्य भाव है इसीलिए उन्होंने परम ज्ञानी उद्धव को रस भाव की अनुभूति कराने के लिए श्रीवृन्दावन भेजा। वहाँ उन्होंने गोप गोपिकाओं के मध्य भगवान के रसो वै स के परम रस भाव का अनुभव किया। उद्धव रससिक्त होकर जब लौटते हैं तो श्रीकृष्ण अत्यन्त आनंदित होते हैं। कालान्तर में श्रीकृष्ण ज्ञानमयी भक्ति का अतिम सन्देश उद्धव को देते हैं। भगवान श्रीकृष्ण का सख्य

प्रेम अत्यन्त मानवीय एव सवेदनात्मक रूप में उभर कर आया है। मानवीय सबधों का ऐसा उच्चस्तरीय व्यवहार ही मैत्री को उत्तरोत्तर दृढ बनाता है।

यहाँ यह जानना अप्रासगिक नही होगा, अर्जुन शिष्यत्व की बात करता सुदामा याचक भाव से जाता है उद्धव अनुयायी भाव से व्रज मे जाता है, लेकिन कृष्ण सभी के साथ सख्य भाव ही रखते हैं। श्रीकृष्ण करुणामय होने के कारण उन्हें भी गोप - गोपिकाओं की तरह अपना अभिन्न मानते है और अन्ततोगत्वा सभी को आनन्द प्रदान करते हैं।

लीला माधुर्य भगवान श्रीकृष्ण की सभी लीलाएँ अप्राकृत एव अलौकिक होने के कारण उनमें गहनतम भाव पूर्ण माधुर्य के साथ अभिव्यक्त हुआ है । प्राकृत लीला उसे कहते हैं जो प्रकृति से जुड़ी हुई है और प्रकृति के तीनो गुणों सत्व रजस और तमस से युक्त है। अप्राकृत लीला प्रकृति से परे प्रकृत्यातीत ' है। जो लीला प्रलय काल मे भी अप्रभावित है अर्थात् जिस का प्रलय भी नाश न कर सके वह अप्राकृत है। श्रीकृष्ण की हर लीला अप्राकृत भाव से अनुस्यूत है। अच्युत श्रीकृष्ण की सभी लीलाएँ शाश्वत एव नित्य है।

श्रीकृष्ण की लीला माधुरी की एक विशेषता है- वह एक ओर आनन्द प्रदान करती है तो दूसरी ओर भगवान की अलौकिक विभूतियों द्वारा परम ऐश्वर्य को व्यक्त करती है। ऐश्वर्य मे भगवान की महत्ता का रूप उजागर होता है तो उनके लीला माधुर्य मे प्रियत्व का अनुराग प्राप्त होता है। वृन्दावन रूपी दिव्य धाम में दोनो मिलकर अनिर्वचनीय मधुरिमा सम्पन्न करती है। नागदमन लीला गोवर्धन लीला, पूतना वध अनेक राक्षसो का वध उनके पराक्रम के द्योतक हैं। मृद् भक्षण लीला में एक ओर बाल माधुरी का निरूपण होता है तो दूसरी ओर विराट स्वरूप दर्शन दे कर वे यशोदा को अपने ऐश्वर्य स्वरूप का साक्षात्कार कराते है। उनकी हर ऐश्वर्यमयी लीला के पीछे मधुर लीला व्याप्त है। एक ओर नागदमन में ऐश्वर्य लीला है तो नाग के शीर्ष पर नृत्य मे अपूर्व माधुर्य है। दोनों का यह अभिनव मिलन अत्यन्त आकर्षक है। इसी प्रकार व्रज की सभी लीलाएँ असीम मधुरिमा से मण्डित हैं। हम एक-एक लीला मे उनकी बाल सुलभ चपलता, प्रेम और लालित्य एव उदारता का दर्शन करते है। धूरि धूसरित बाल कृष्ण को नन्द के प्रागण में नृत्य करते हुए देखकर एक ज्ञानी भक्त लिखते है कि श्रीकृष्ण के रूप में वेदान्त सिद्धान्त नृत्य कर रहा है। वास्तव मे श्रीकृष्ण बड़े कौतुकी हैं।

"श्रृणु सखि! कौतुकमेक नन्दनिकेतागणे मया दृष्टम्।
गोधूलि धूसरागो नृत्यति वेदान्त सिद्धान्त ॥

भगवान श्रीकृष्ण का लीला माधुर्य रासपचाध्यायी में अपनी परम उत्कर्षता प्राप्त करता है। उसे तो भागवत का प्राण ही माना गया है। रासपचाध्यायी में वे अपने भक्तों को आनन्द प्रदान करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो ब्रह्म जब श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेते हैं तो वे अपने साथ अपनी रस शक्तियाँ, गोप, गोपियाँ, ग्वाल-बाल एव अपना अनन्त लीला धाम गोकुल और वृन्दावन साथ लेकर आते हैं। अत गोकुल एव वृन्दावन मात्र भौगोलिक प्रदेश न होकर आध्यात्मिक गोलोक धाम हैं जहाँ भगवान निरन्तर अपनी दिव्य लीलाएँ प्रस्तुत करते हैं। नित्य रास करते हैं। गोपियाँ जो सदा प्रकाश का पान करती हैं, वे तो भगवान की रस प्रसारिणी शक्तियाँ है। अत रास लीला मे आनन्द ही आनन्द है। रास लीला मण्डलाकार होने से वैश्विक चेतना से जुड़ जाती है। राधा तो पब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण की सृष्टि कारिणी शक्ति है या ससृति शक्ति है। इनका अनन्त मिलन रासलीला में अभिव्यजित है। राधा एव कृष्ण उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति मे एक हैं, अभिन्न हैं। रासलीला में तो भगवान श्रीकृष्ण का आनन्द विग्रह अपनी ही आनन्द शक्तियो के साथ रमण करता है। रासलीला मे हर गोपी के साथ श्रीकृष्ण रास खेल रहे हैं। यही आत्मा और परमात्मा का मिलन है जीव और ब्रह्म का ऐक्य हैं। रासलीला परमहर्मो के लिए भगवद् साक्षात्कार है। मोक्ष या सायुज्य मुक्ति है। श्री बल्लभाचार्य सायुज्य मुक्ति से भी परमा मुक्ति या भजनानन्द को श्रेष्ठ मानते हैं। इस में जीव दिव्य देह प्राप्त कर भगवद् लीला में प्रवेश कर भगवान की लीला माधुरी का निरन्तर आनन्द लेता है। यही है सर्वोपरि मुक्ति जिसे पुष्टिमार्ग मे परमा मुक्ति कहते हैं।

वेणुगीत एव रास पचाध्यायी का वर्णन भागवत के लेख में भी आया है इसलिए पुनरावृत्ति का प्रतीत होना स्वाभाविक है लेकिन सन्दर्भ-भिन्नता के कारण वस्तुत पुनरावृत्ति नहीं है। भागवत में वेणुगीत एव रास पचाध्यायी भक्ति के सन्दर्भ में है, जहाँ इस लेख में माधुर्य रस की प्रमुखता है।

भगवान श्रीकृष्ण की सभी लीलाएँ मधुर से मधुरतम होकर श्याम सुन्दर को सुन्दरतम बना देती हैं। इस मधुमय सौन्दर्य को प्राप्त करने का सहज उपाय है विशुद्ध प्रेम और श्रीकृष्ण के चरणों में शरणागति। उनके अनुग्रह से हम इसी दिव्य माधुरी का दर्शन कर सकते हैं। क्योंकि प्रेम और माधुर्य हर व्यक्ति के अन्तकरण में अवस्थित है ही। अत किसी भी उपाय से हमें मन को श्रीकृष्ण लीलाओं के माधुर्य में नियोजित करना चाहिए।

की रचना की जो विश्व आध्यात्मिक साहित्य की अनुपम निधि है। लेकिन अध्ययन की सुविधा के लिए हम उन कवियों को सत कहते है जिन्होंने मुख्य रूप से निर्गुण, निराकार परब्रह्म को अपनी कविताओ, वाणियों, साखियो, प्रतीकों और अपनी उलट वाणियों के माध्यम से प्रस्तुत किया। इन पर भक्ति से अधिक दर्शन एव योग का प्रभाव था। इनके काव्य में ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि का विपुल वर्णन है। इसके अतिरिक्त योग के आसन, प्राणायाम, षट्चक्र, सहस्रार, इगला, पिगला, सुषुम्ना नाड़ी में सचालित शक्ति एव कुण्डलिनी का सूक्ष्म निरूपण किया गया है। नीति, सद् आचरण, वैराग, त्याग यम नियम योग-साधना आदि पक्षो पर इनकी कविताओं में बल दिया गया है। अनासक्त भाव एव द्वन्द्वरहित जीवन के द्वारा हम भगवद् साक्षात्कार कर सकते है। निर्गुण भक्ति की ओर उन्मुख होते हुए भी उनके व्यापक दृष्टि थी। राम और कृष्ण भक्ति की ओर वे आकर्षित थे। उन्होंने इन पर विपुल पद्य रचना की है। जन-जन के कवि होने के कारण राम और कृष्ण की भक्ति की लहर से कैसे अप्रभावित रह सकते थे। राम और कृष्ण के पदों मे उन्होंने ब्रह्म भाव का ही विशेष रूप से दर्शन किया।

भक्त कवि मूलत सहृदय सवेदनशील और भगवद् प्रेम में अनुरक्त होते है। वे सगुण साकार अवतारी परम पुरुष भगवान रामचन्द्र एवम् श्रीकृष्ण की उपासना करते है। प्रेम सख्य, वात्सल्य माधुर्य आदि मधुर भावो से भगवान का गुणगान एव स्तुति पाठ करते हैं। इन कवियो ने लोक भाषा मे अत्यन्त मधुर पद्यों की रचना की जो जन-जन की जिह्वा पर मानो नृत्य करते है। इन पदो को सुनकर सभी प्रेम विभोर हो जाते है। उनका मानवीय प्रेम दिव्य प्रेम मे रूपान्तरित हो जाता है। इन्ही भावों से प्रेरित होकर शिव भक्त, शिव का गुणगान व कीर्तन अत्यन्त भक्ति भाव से करते हैं। देवी भक्त माँ उमा, लक्ष्मी, सरस्वती की वदना करते हैं।

निराकार ब्रह्म एवम् उनकी आह्लादिनी शक्ति महामाया सगुण साकार रूप धारण कर लेती है। शिव और उमा, विष्णु और लक्ष्मी राम और सीता, कृष्ण और राधा उसी परब्रह्म परमात्मा के सगुण साकार स्वरूप है। सगुण भक्त भगवद् प्रेम में इतने ओत प्रोत हो जाते हैं कि दैनिक भौतिक कार्यों से उन्हें विरति होने लगती है। भगवद् प्रेम में निमग्न रहने के कारण लौकिक व्यवहार के प्रति उदासीन प्रतीत होते हैं। भगवद् चरणो में सम्पूर्ण समर्पण का भाव उनमें सद्य जागृत हो जाता है। वाह्य दृष्टि से सत एवम् भक्त कवियों में भिन्नता दिखाई देने पर भी दोनो का लक्ष्य भगवद् साक्षात्कार एव मानव-मानव मे प्रेम मैत्री और सद्भाव का सचार करना ही था।

इन सत एव भक्त कवियों का भारतीय सस्कृति को अन्यतम अवदान रहा है। हम कह सकते हैं कि सोलहवी सदी भक्ति-युग के रूप में नव जागरण काल था। अत्यन्त विषम थी उस समय की राजनैतिक स्थिति। जन मानस आक्रान्त था। परस्पर होते रहने वाले द्वन्द्वों से आम प्रजा विपन्न होती जा रही थी। उनकी आस्थाएँ डिग रही थीं अत भगवान की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक था। ऐसी विषम स्थिति में इन सतों एव भक्तों ने भारत को पुन अस्मिता प्रदान की। उनमें विश्वास एव आत्मशक्ति का सचार किया। उनका एक तरह से पुन आत्मनिर्माण किया। सत एव भक्त दूर-दूर तक गाँवों में, गिरि अचलों में जाते थे और जनता को ज्ञान, भक्ति प्रेम एव मैत्री के पद्य पढाते और सुनाते थे। भगवान की मधुर लीलाओं का गुणगान गा-गा कर लोगो मे रस बोध का मचार करते। ताकि उनके हताश जीवन में पुन अनुराग स्फूर्त हो सके। तीज-त्यौहार, उत्सव आदि के पद भगवद् लीलाओं से सबधित होने के कारण एक नए उत्साह का वातावरण बनाने में हमारे कवि अत्यन्त सफल रहे। परिणामत हमारी अनपढ कहलाने वाली जनता नि सदेह सस्कारित हुई उनका ऊँचा नैतिक आचरण, ज्ञान की बातें सतो एव भक्तो से सुनकर सहज रूप मे अपने जीवन मे होने लगे। कवियों की अमर वाणी ने जन-जन मे नई ऊर्जा व शक्ति प्रदान की। वे न तो सकटों में हताश होते और न विजय से गर्वित। उनका व्यवहार अत्यन्त सतुलित और मैत्री पूर्ण बना। दर्शन की विशिष्ट मान्यताओं को उन्होंने सहज रूप से आत्मसात किया। आत्मा परमात्मा जीवन की नश्वरता ईश्वर में आस्था, लोक मगल की ओर सक्रिय, इन सभी कार्यो के प्रति जन-जन मे उत्साह बढ़ा। इसी महत उद्देश्य के लिए उनमें आत्म समर्पण का भाव उजागर हुआ। ऐसा लगता है सतों एवम् भक्तों की अहैतुकी कृपा उन्हें सहजता से प्राप्त हो गई।

हमारे सत एव भक्त -कवि, ज्ञान की जटिल-गुत्थियों को सुलझाने में तर्क-वितर्क का सहारा नहीं लेते थे। आध्यात्मिक अनुभूतियो को ही वे जन-जन के समक्ष रखते थे - जिससे लोग धन्यता का अनुभव करते थे। जिन भक्त विभूतियो ने हमें प्रभावित किया वे वास्तव में नाना पुराण निगमागम के ज्ञाता होते हुए भी अपने विचार सरल भाषा मे निरूपित करते थे। गहनतम दार्शनिक विचार धाराएँ मानो पिघल कर जन-जन के हृदय आप्लावित करते हुए तरल मन्दाकिनी बन गई हो। सत व भक्तों की सहज वाणी सबके हृदय को सीधा स्पर्श करती है अत गूढतम बात को भी लोग सहजता से हृदयगम कर लेते हैं।

सतों एव भक्तों की अमृत वाणी के कुछ प्रेरक प्रसग उद्धृत कर यह दिखाने का

प्रयास है कि जीवन में आचार, विचार, नैतिकता, प्रेम मैत्री के विविध पक्ष कितनी सरलता से इनके पर्दो में अंकित हुए हैं। इन्हें आत्मसात् कर भारतीय जन मानस ने कितनी गहराई, ऊँचाई व्यापकता प्राप्त की है। यह साग्र साहित्य निश्चय ही भारत की अमूल्य धरोहर है।

सत साहित्य का प्राकट्य

राजनीतिक धार्मिक एव सामाजिक परिवर्तनों के मध्य सत साहित्य का आविर्भाव हुआ। यह स्पष्ट हो गया था कि धर्म और परपरा को अक्षुण्ण रखने के लिए आचार्यों को सस्कृत कृतियों से प्रेरणा लेकर इस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाना अनिवार्य हो गया था। दक्षिण भारत से आए हुए महान् सत स्वामी रामदास ने इस ऐतिहासिक अनिवार्यता को समझा और उन्होंने धर्म को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रतिष्ठित किया। रामानन्दजी रामानुजाचार्य की शिष्य परपरा में होने के कारण वे विशिष्टाद्वैत के समर्थक थे किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वे अद्वैतवाद में विश्वास रखते थे। वे बड़े उदार थे एव जाति पाँति में विश्वास नहीं रखते थे। स्वामी रामानन्दजी ने इस कार्य को सक्षम रूप से सपादित करने के लिए बारह शिष्य बनाए।

> **अनतानद, कबीर , सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि।**
> **पीपा, भावानन्द, धना, सेन, सुरसरि की धरहरि।।**

इन शिष्यों में कबीर, भावानन्द, रैदास, धन्ना और सेन सत और कवि दोनों रूपों में प्रसिद्ध हुए हैं। प्राय शिष्य निम्न वर्ण के थे। उन्हें शास्त्रीय ज्ञान विशेष नहीं था। वे तो अपने जीवन में सघर्ष और कठिनाइयों के मध्य रहते हुए अपने आदर्शों का अनुकरण करते थे। उनका ध्येय भक्ति भाव को जन-जन में जागृत करना था। स्वामी रामानन्द ने अपने शिष्यों को स्वतत्र धार्मिक दृष्टि रखने की पूरी छूट दे रखी थी। उनका आग्रह नहीं था कि भक्त साकार या निराकार उपासना को अपनाएँ। उनकी मान्यता थी कि शिष्य धर्म के वास्तविक महत्व को हृदयगम कर उसे जीवन में चरितार्थ करें। स्वामी रामानन्द के शिष्य उत्तर भारत में निर्गुण सप्रदाय के थे। सत - कवि, ब्रह्म को निराकार मानते थे। फिर भी कबीर, रैदास, पीपा, धना आदि सगुण की उपासना में विश्वास रखते थे। निर्गुण रूप में ब्रह्म का निरूपण नहीं किया जा सकता। सत-कवि अद्वैत सिद्धान्त को प्रमुख रूप से मानते थे। लेकिन उनके काव्य में तर्क एव बौद्धिक शैली का अभाव है। उनमें हृदय पक्ष की ही प्रधानता है, वे समाज सुधारक नहीं थे। लेकिन समाज में घूमकर

वे अपने पद्य गाया करते थे और लोग उनके मधुर पदों को सुनने के लिए एकत्रित होते थे। इससे जो भी समाज के दोष उनके सम्मुख आते थे उनकी तरफ वे लोगो को सतर्क कर देते थे। समाज सुधारक नही होते हुए भी वे समाज में सुधार सम्पन्न कर देते थे। वे सत्य के पुजारी थे। स्वभाव से वे अत्यन्त निर्मल, निरहकारी, अभय और अनासक्त थे। वे मान मोह, भय से दूर ही रहते थे। सत काव्य में अद्वैत की भावना का स्पर्श है, गहन, गहरी, विरह व्यथा है एव अपने प्रिय के महामिलन की अलौकिक दिव्य अनुभूति परिलक्षित है। सत कवियो के कुछ साहित्यिक पद उद्धृत हैं।

कबीर इस देश के प्रमुख सतों मे थे। उन्होने चिरन्तन सत्य को सरल और सुबोध वाणी में व्यक्त किया। उनकी साखियाँ, शब्द, उलट-बाणियाँ अत्यन्त लोकप्रिय एव जन-जन में मौखिक रूप मे प्रसिद्ध है और घर-घर मे गाए जाते है। जाति पाति मे उन्हे विश्वास नहीं था। कबीर ने जनता मे मानव धर्म का प्रसार किया। ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है, उससे मिलने का मार्ग प्रेम और आत्मसमर्पण का है इसलिए धर्म जीवन की सहज प्रेमानुभूति में दम्भ और आडम्बर को कोई स्थान नही है। 'घट-घट मे वो साई रमता कटुक वचन मत बोल रे''। सर्वत्र ढाई अक्षर प्रेम का प्रचार करने वाले कवि निर्गुण पथी होते हुए भी सगुण पद लिखते थे। उनकी प्रेममयी भक्ति का पद उद्धृत है -

चरन कमल चित लाइए राम नाम गुन गाइ।
कहे कबीर ससा नहीं भगति मुगति गई पाइ।।

जीव और ब्रह्म के अद्वैत को वे प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करत थे।

जल में कुभ कुभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुभ जल जलहि समाना, इह तथ कह्यो ग्यानी।।

ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहते हैं -

जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप सुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप।।

योग साधना के सबध में उन्होंने कई पद लिखे हैं, जो सत सदा गाते हैं -

झीनी झीनी बुनी चदरिया, झीनी झीनी रे।

कबीर का प्रभाव इतना व्यापक एवम् आकर्षक था कि देश - विदेश में भी इनके

पदों का अनुवाद हुआ है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कबीर के पदों का बगला में अनुवाद किया।

पीपा गागरौनगढ़ नरेश थे। पहले भगवती दुर्गा के उपासक थे फिर स्वामी रामानन्द से दीक्षा लेकर वैष्णव हो गए। उनकी कविता गुरु ग्रथ साहब में सकलित है। उनका काव्य अत्यन्त लोकप्रिय था। उदाहरण स्वरूप एक पद प्रस्तुत है -

> काइया बहु खण्ड खोजते नव निधि पाई
> ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दोहाई।
> जो ब्रह्माण्ड सोई पिडे जो खोजै सो पावै
> पिया प्रणवै परम ततु है सति गुरु होई लखावै।।

रैदास 1517 ई०। इनका जन्म चर्मकार परिवार में हुआ था। तथापि वे सत रूप मे दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। ये काशी मे निवास करते थे। बड़ी ही भाव पूर्ण एव सरल कविताएँ लिखते थे इनकी कुछ कविताएँ ग्रथ साहिब मे सकलित है।

> मेरी जाति कमीनी पाति कमीनी ओछा जनमं हमारा।
> तुम सरनागति राजा रामचन्द्र कहे रविदास चमारा।।

धन्ना जाति के जाट थे और धुवन राजस्थान के निवासी थे। वे रामनाम से दीक्षित हो कर निराकार की उपासना के लिए प्रसिद्ध थे। गुरु ग्रथ साहिब मे सकलित पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है —

> जाति समाए समानी जाकै अछली प्रभु पहिचानिआ।
> धनै धनु पाइया धरणी धरू, मिलि जन सत समानिआ।।

सेन जाति के नाई थे और बाँधोगढ़ के राजा राम की सेवा में व्यस्त रहते थे। उनका निम्न पद ग्रथ साहिब में से है —

> उत्तम दिउरा निरमल बाती ।
> मदन मूरति मैं तारि गोविन्दे
> सैणु मणै भजु परमानन्दे।।

गुरुनानक सिख धर्म के प्रवर्तक है। वे एकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे। सभी धर्मों व जातियो में एकता सिद्धान्त प्रतिपादित करते है। इनकी रचनाएँ ग्रथ साहिब के पहले महले मे सकलित है। जपुजी इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। नानकदेव के पद ज्ञान, भक्ति

एव निष्ठा के साथ सर्वत्र गाए जाते हैं -

काहे रे बन ढूँढन जाई
सरब निवासी सदा अलेपा तोही सग समाई
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसे निरन्तर घट घट खोजों भाई
बाहर भीतर एकौ जानौ यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हें मिटै न भ्रम की काई।।

दादू जन्म अहमदाबाद गुजरात मे हुआ। एकेश्वर वाद के प्रति उनकी अनन्य भक्ति थी। विरह और प्रेम के माध्यम से उन्होंने अपने भाव व्यक्त किए है। उनकी काव्य-भाषा ब्रज भाषा है जिसमे राजस्थानी और खड़ी बोली के शब्दो का मिश्रण हुआ है।

दादू पथ जोड़े क्या पाईए, साषी कहें का कोई।
सति सिरोमणि साइयाँ, तत न चीन्हा सोई।।

मलूकदास योग, ज्ञान निर्गुण भक्ति वैराग्य आदि गहन विषयों पर प्रकाश डाला है। इन्होंने अवधि और ब्रज भाषा में रचना की, 'ज्ञान बोध'' आदि ग्रथों की रचना अवधी मे है और श्रीकृष्ण चरित्र सबधी रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। ब्रजलीला'' आदि स्थान-स्थान पर सस्कृत एव फारसी के शब्दो का भी प्रयोग किया है। वे निर्गुण ब्रह्म की उपासना परक पदों के साथ-साथ सगुण ब्रह्म के पद भी लिखते थे।

कहत मलूक जो बिन सिखै, सो यह रूप बखानै
या नैया के अजब कथा, कोई विरला केवट जानै।
कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़ भागी गावै
क्या गिरही क्या वैरागी, जेहि हरि देय सो पावै।।

सत कवियों की रचनाएँ मुख्यतया ज्ञानमयी अनुभूतियों को प्रस्तुत करती है। वे प्राणी मात्र में भगवद् दर्शन करते हुए समग्र सृष्टि को दिव्य मानते थे। ज्ञान के प्रकाश के साथ-साथ उनका हृदय अत्यन्त सवेदनशील था। यही कारण है कि मध्यकालीन भारत पर उनके पीयूषवर्षी पदों का व्यापक प्रभाव पड़ा। समाज में प्रेम, भाईचारा सहिष्णुता त्याग तप उदारता एव नैतिक जीवन का उन्होंने सर्वत्र प्रचार किया। उनके पदों की उपादेयता आज भी उतनी ही आवश्यक है जितनी उन दिनों में थी।

महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, क्षितिमोहन सेन आदि महापुरुष कबीर के पदों से अत्यन्त प्रभावित थे।

सत कवि जैसे कि पहले कहा जा चुका है निर्गुण-निराकार के उपासक थे फिर भी सगुण-साकार के महत्व को उजागर करते हुए उन्होंने राम और कृष्ण पर पद्य रचना की। उनकी उदार समन्वयात्मक दृष्टि सभी सिद्धान्त, धर्म, जाति आदि का भेद मिटाकर समाज में सामजस्य करते हुए अद्वैत के परम तत्व को प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। इनके पदों ने मानवीय भावनाओं का ससस्पर्श किया। ज्ञान की परिपूर्णता भक्ति के रस से सिचित होने में है, इस दिशा मे काव्य लेखन प्रारम्भ हुआ जिसका विकास हमे सगुण वैष्णव भक्ति मे दृष्टिगत होता है।

वैष्णव भक्ति

वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास का बीज तो वैदिक धर्म में निहित है। विष्णु के सगुण अवतारो की स्थापना श्रीमद्भागवत में सविस्तार उपलब्ध हो जाती है। इतना आकर्षक है भग्वान का सगुण रूप कि यूनानी हैलियोडोरस ईसा पूर्व दूसरी शताब्दि में विष्णु के वासुदेव के रूप को अपने गरूड़ स्तम्भ में उल्लेख करते हैं। गुप्तकाल मे विष्णु के अवतारो की पूजा विधिवत होती थी। इसका उल्लेख अभिलेखो में प्राप्त है। यही भाव कालान्तर मे सगुण भक्ति के रूप में मध्यकालीन भक्ति काव्य में पूर्ण माधुर्य के साथ प्रस्फुटित हुआ है।

वैष्णव भक्ति के सस्थापक आचार्य रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि के सिद्धान्तों का सगुण भक्ति पर सर्वत्र प्रभाव लक्षित होता है। इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य महात्माओ आचार्यों का भी समावेश हो जाता है। इसी परपरा में चैतन्य तुलसीदास सूरदास अष्टछाप के कवियों का नाम उल्लेखनीय है। आचार्यों एव भक्तों ने भारतीय साहित्य एव सस्कृति दोनों का उन्नयन करते हुए राम और कृष्ण की उपासना का सर्वत्र प्रचार किया। वैष्णव धर्म में ये आचार्यों एव रसिक कवियों के रूप में विख्यात हैं। राम के प्रति अनुरागमयी भक्ति भावना एव श्रीकृष्णकी लीला माधुरी में व्यक्त प्रेम एव भक्ति, कवियों के काव्य मे पूर्ण रूप से उद्भासित है। समस्त भारतीय भाषाओं में राम भक्ति का काव्य उपलब्ध है। इस लेख में हिन्दी साहित्य में उपलब्ध राम काव्य के कुछ अशों का निरूपण किया जा रहा है।

राम भक्त कवियों के सामने संस्कृत का विशाल एवं सम्पन्न साहित्य था। आदि कवि वाल्मीकि ने एक ऐसी आदर्श कथा प्रस्तुत की कि वह मानवीय मूल्यों की उच्चतम प्रेरणा स्रोत बन गई। राम की कथा किसी लौकिक नायक की न होकर अवतारी परम पुरुष की थी इसलिए इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। राम भक्ति धारा में ओज, माधुर्य एव भक्ति को जन-मानस की भाव भूमि पर स्थापित करने का श्रेय महाकवि तुलसीदास को है। अत इनके पूर्व जो साहित्य प्रकाशित या अप्रकाशित उपलब्ध है उस पर उचित दृष्टिपात करना समीचीन है।

हिन्दी साहित्य में वीर गाथा काल बारहवीं शताब्दि में रचित पृथ्वीराज रासो में कवि चन्द (1168 ई०) ने मगला चरण में दशावतारों का वर्णन किया है, उसमें राम की स्तुति की है। रामावतार के सम्बन्ध में अड़तीस छन्दों में राम कथा के विविध प्रसगों का उल्लेख किया है। उत्तर भारत में राम कथा के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य रामानन्द को है। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। राम रक्षा स्तोत्र इनकी विख्यात रचना है। इनकी हनुमान स्तुति परम्परा से प्राप्त है। कबीर ने भी राम पर पद्य लिखा -

> ''दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना
> राम नाम को मर्म न जाना।।

इनके पश्चात् कवि विष्णुप्रसाद का नाम उल्लेखनीय है, इन्होंने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी रूपान्तरण किया। ईश्वरदास ने भरत मिलाप'' और ''अगद पैज'' नाम की दो रचनाओं को प्रणीत की। ब्रह्मरामल और सुन्दरदास ने हनुमन्तगाथा'' और हनुमान चरित'' की रचना की। कवि अग्रदास ने अन्य कृतियों के अतिरिक्त अष्टयाम 'राम भजन मजरी'' एव ''उपासना बावनी'' लिखी। वे अपने आपको सीताजी की सखी मानते थे। वे ब्रज भाषा में सुन्दर पद रचना करते थे। रामाष्टयाम'' में इन्होंने राम की दैनिक लीलाओं का वर्णन किया।

तुलसीदास राम भक्ति काव्य के मूर्धन्य कवि हैं। इनका रामचरित मानस भारतीय साहित्य एव विश्व साहित्य में एक अनमोल कृति है। विल्सन स्मिथ कहते हैं कि तुलसीदास भारत के उद्भुत काव्य उद्यान में सबसे ऊँचा वृक्ष है। तुलसीदासजी की भक्ति भावना में लोक-सग्रह की प्रधानता रही। वे तो वास्तव में लोकनायक थे जिन्होंने समाज में जितनी प्रवृत्तियाँ या पद्धतियाँ थीं उनमें व्यापक स्तर पर समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

इनका काव्य सास्कृतिक समन्वय की श्रेष्ठतम कृति है। भगवान राम का गुणगान करते हुए इन्होंने भारतीय जन मानस मे उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य, नैतिकता उदारता, सहिष्णुता मैत्री एव आदर्श भाई चारे को सस्थापित किया। जहाँ बुधजन इनके काव्य पाठ में पुन पुन विश्राम करते हैं जन-जन इनके काव्य को गा-गा कर नदित होते हैं। बुध विश्राम सकल जन रजन'' इन्होंने 12 ग्रथों का प्रणयन किया जिसमें रामचरित मानस अत्यन्त लोकप्रिय ग्रथ है। कवितावली दोहावली विनय पत्रिका के पद प्राय भजनों के रूप में गाये जाते हैं। वे अत्यन्त भाव पूर्ण एव भगवद् शरणागति के अन्यतम ग्रथ है। तुलसीदास ने श्रीकृष्ण गीतावली की रचना की जिसमें 6। पद हैं जो सब के सब गेय हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती तुलसीदास के काव्य के बारे में लिखते हैं इनकी कविता मजरी पर श्रीराम स्वय भ्रमर बन कर गूजते हैं उसका रसास्वादन करते हैं -

राम कथा मदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह वन सिय रघुवीर विहार।।
एक भरोसा एक बल एक आस विस्वास।
एक राम घनाश्याम हित चातक तुलसीदास।।

केशवदास इन्होने सात ग्रथ लिखे। इनकी रामचन्द्रिका' विख्यात काव्य रचना है। इसमें कवि की अलकार प्रियता और चमत्कार जगह-जगह पर परिलक्षित हैं। उनका रावण अगद सवाद अत्यन्त लोकप्रिय है।

''दीन सु क्यों छिति-छत्र हत्यो, बिन प्राणन है हयराज कियो।
हैहय कौन ? वहै विसर्यो ? जिन खेलत ही होति बाध लियो।।

नाभादास तुलसीदास के समकालीन राम भक्त कवि थे। इनका प्रसिद्ध ग्रथ भक्तमाल' है जिसमें स्पष्ट होता है कि वे सस्कृत के विद्वान् एव छन्द शास्त्र के पडित थे। इन्होंने अपनी रचना ' अष्टयाम'' में राम भक्ति सबधित पद प्राजल एव भाव पूर्ण शैली में लिखे।

विद्यापति 4 5 पद भगवान श्रीराम की स्तुति के रूप मे तथा सीता और राम विवाह के प्रसग पर लिखे हैं। मीरा बाई ने राम पर कई पद लिखे हैं जो घर-घर में निष्ठा पूर्वक गाए जाते हैं।

सूरदास सूरसागर के नवमें स्कध मे 159 पदो मे सपूर्ण श्रीराम कथा का वर्णन किया है। सभी पद एक कथा सूत्र मे बधे हुए हैं।

नन्ददासजी के काव्य में भी श्रीराम और हनुमान के प्रति गहरी श्रद्धा है। उन्होंने कई पद रामकथा पर लिखे हैं, परमानन्द दास एव गोविन्द स्वामी के कई पद राम कथा से सबध रखते हैं।

निम्बार्क सप्रदाय के परशुराम, राधा वल्लभ सप्रदाय के हित हरिवश एव सखी सप्रदाय के माधवदास जगन्नाथी द्वारा रचित राम कथा प्रसग के पद उपलब्ध हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम की लोक मगल लीला सदा पुण्य प्रदायिनी पाप हरण करने वाली सदा कल्याण करने वाली व ज्ञान, भक्ति देने वाली है।

पुण्य पापहर सदा शिवकरम् विज्ञान भक्ति प्रदम्।

श्रीकृष्ण काव्य धारा

भगवान श्रीकृष्ण की लीला माधुरी से समस्त भारतीय भक्ति साहित्य आप्यायित है। लोकगीतों से लेकर उच्चतम साहित्यिक कृतियों में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाएँ छाई हुई हैं। उपनिषदों मे मिलता हुआ सकेत महाभारत एव भागवत में पुष्ट होकर समस्त भारतीय चेतना में इस प्रकार व्याप्त हो गया है। श्रीकृष्ण जन-जन के मित्र, सखा, प्रियतम गुरु ईश्वर एव साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हो गए हैं। वे तो समस्त चराचर जगत के ब्रह्माण्डनायक हैं। वे विराट स्वरूप में विष्णु के पूर्णावतार है। सस्कृत कवि व्यास से लेकर अद्यावधि पर्यन्त सभी कवि उस चञ्चल, नटखट गोपाल की लीलाओं रासलीला आदि से लेकर गहन गभीर अनासक्त योगेश्वर के गुणगान करते में नहीं अघाते हैं। श्रीकृष्ण की लाला पूर्ण है उसमें न कुछ जोड़ा जा सकता है न घटाया जा सकता है न विभाजित किया जा सकता है इसीलिए वह पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। भक्त कवियों ने इन पर मधुरतम काव्य लिखकर अपनी भक्ति साधना द्वारा उनका अनुग्रह प्राप्त किया। श्रीकृष्ण के माधुर्य चरित्र पर लिखे हुए काव्यों की विहग दृष्टि भी अति व्यापक है अत मध्य कालीन हिन्दी साहित्य तक ही इस विवेचन को परिसीमित किया है।

विद्यापति मिथिला निवासी थे। जयदेव और चण्डीदास ने जिस कोमलकान्त पदावली में सुकुमार भावों की अभिव्यजना की उसी परपरा में विद्यापति ने राधा एव कृष्ण पर मधुर पद लिखे जिसमें भक्ति एव श्रृगार का मधुमय समन्वय हुआ। उनकी सरस पदावली ने लोक हृदय को मुग्ध कर दिया था। विद्वद्गण ने उन्हें 'अभिनव जयदेव'' मिथिला कोकिल' आदि विशेषणों से अभिसहित किया है। उनके पदों में विरह व मिलन का अत्यन्त भाव प्रवण चित्रण हुआ है। उनकी भाषा का लालित्य इतना समृद्ध है कि परवर्ती

कवि भी इनसे प्रभावित हैं।

> माधव, कत तोर करब बड़ाई
> तोहर सरस एक मोहीं माधव
> मन होई अनुमाने
> सज्जन जन सऔनेह अचितथिक
> कवि विद्यापति माने।।

वैष्णव धर्म के सभी सम्प्रदायों में कृष्णलीला के मधुर पद भक्त कवियों ने बड़े ही उत्साह एव भावना के साथ लिखे हैं। उनके सम्प्रदाय के भावों की झलक पदों में होती रहती है।

बल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म पूर्ण आनन्द स्वरूप हैं। उनकी सारी लीलाएँ अप्राकृत एव आनन्द प्रसारिणी है। अष्टछाप के कवियों ने इन लीलाओं का अत्यन्त आह्लादकारी वर्णन किया है। ये लीलाएँ नित्य है और इनका प्रयोजन आनन्द प्रदान करना ही है।

सूरदास श्रीकृष्ण-भक्ति-काव्य के मूर्धन्य कवि हैं। उनकी आधरी आँखों मे श्रीकृष्ण की लीला माधुरी में सराबोर रहते थे। सूर ने अनेक ग्रथ लिखे हैं किन्तु उनका प्रमुख ग्रथ सूरसागर" श्रीमद्भागवत पर निरूपित हुआ है। इसमें मानवीय प्रेम दिव्य होकर भगवद् प्रेम में रूपान्तरित हो जाता है। सूरदास के काव्य में माता और बालक का वर्णन या 'वात्सल्य" भाव अत्यन्त विलक्षण एव हृदय-स्पर्शी है। सभवत ऐसी भावाभिव्यक्ति विश्व साहित्य में दुर्लभ है।

मैया मैं नहिं माखन खायो तो हर पाठक की जिह्वा पर अकित है, हर गायक के कण्ठों में गूज उठा है। सूरदास स्वय अच्छे सगीतज्ञ थे और अपने पदों को नित्य मदिर में और भक्त मडली में गाते थे।

उनका भ्रमरगीत प्रसग मार्मिक भाव चित्रण का अनुपम काव्य है। यह सूर की अनुरागमयी भक्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण है जहाँ कविता भगवद् भक्ति में परिणत हो जाती है। जीवन के सभी पक्षों का सुन्दरतम निरूपण हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण का स्वरूप सर्वस्व मधुर के साथ सुन्दर भी है। वैष्णव भक्ति में भगवद् अनुग्रह ही सर्वोपरि है। यही भक्त को भव बाधाओं से मुक्त कर भगवद् सान्निध्य प्रदान करता है। सूर कहते है

जा पर दीनानाथ ढरै
सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोई जापर कृपा करैं।
सूर पतित तरिजाय तनक में तो प्रभूनेक ढरै

सूर की शरणागति, विनय के पदों मे अत्यन्त विनम्रता के साथ निरूपित है और माधुर्य भाव में भी पूर्ण तल्लीनता एव आत्म समर्पण विद्यमान है। सूरसागर तो भगवान श्रीकृष्ण का मधुरतम शब्द विग्रह है।

कुम्भनदास श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनका स्वतन्त्र ग्रथ नहीं है। वे निकुन्ज लीला के उपासक थे। काकरोली से प्रकाशित काव्य सकलन मे 186 पद है और नाथद्वारा के पुस्तकालय में सग्रहीत ग्रथ में 367 पद हैं। उनका मन लाल ' की उस चितवन में अटका रहता था जो गोपियो के चित को चुराती है। उनके हृदय में श्रीकृष्ण की युगल मूर्ति सदा निवास करती थी "कनक बेलि वृषभानुनंदिनी स्याम तमाल चढ़ी वे अत्यन्त निस्पृह भक्त थे।

रस लुब्ध निमिय न छाडत है, ज्यों अधीन मृग गानौ।
कुमनदास सनेह पटल श्री गोवरधन धर जानो।।

परमानन्ददास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इन्होंने वृहद् काव्य ग्रथ ' परमानन्द सागर" लिखा जिसमें श्रीकृष्ण के मथुरागमन से भ्रमर गीत तक का वर्णन है। परमानन्दजी ने भी बाल लीलाओं के अधिक पद लिखे हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन कम करके मधुर-पक्ष की लीलाओं का ही गान किया है। विरह की वेदना और मिलन के सुख की व्यजना अत्यन्त भाव पूर्ण है। प्रेम से व्यथित गोपी की उक्ति उद्धृत है -

जब से प्रीति स्याम कीनी।
ता दिन ते मेरे नैननि ने कहू नींद न लीनी।।
सदा रहत चित चाक चरब्यो सो और कछू न सुहाय।।
मन में रहे उपाय मिलन को इहै विचारत जाय।।

वियोग श्रृगार के वर्णन में परमानन्ददासजी अत्यन्त सफल रहे हैं।

कृष्णदास काव्य और सगीत के मर्मज्ञ होने के साथ साथ वे अच्छे कवि और गायक थे। मातृभाषा गुजराती होते हुए इनका ब्रज भाषा पर पूर्णधिकार था। राग कल्पद्रुम तथा

राग रत्नाकर मे इनके 250 पद प्राप्त हैं। इनका लोकप्रिय पद है -

मो मन गिरिधर छ पै अटक्यो।
ललित त्रिभग चाल पै चलि कै, चियुक चारु गड़ि ठटक्यो।।
सजल स्याम घन वरन लीन ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रान निछावर, यह तन जग सिट परक्यो।।

नन्ददास तुलसीदासजी के चचेरे भाई थे। इन्हें शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। सूरदासजी से मिलन के पश्चात् उनमें भक्ति भावना दृढ़ हो गई। इन्होंने 15 ग्रथ लिखे जिनमें रचनाओं की विभिन्नता दृष्टव्य है। इनकी रचानाओं में प्रखर पाण्डित्य, अनुपम भाषाधिकार और भावुक-भक्ति रसात्मक रूप में व्यक्त हुई है। इनका शब्द चयन अत्यन्त रमणीय है इसीलिए इन्हें शब्दों के जड़िया कहते हैं। इनकी रासपचाध्यायी एव भ्रमरगीत का भक्त लोग नित्य पाठ करते है।

नद भवन को भूषन माई
जसुदा को लाल वीर हलधर को राधारमन परम सुखदाई।।
काल को काल ईस ईसन को अतिहि अतुल तोल्यो नहिं जाई।
नन्ददास को जीवन गिरिधर, गोकुल गाँव को कुवर कन्हाई।।

गोविन्द स्वामी राजस्थान के भरतपुर के थे। ये अच्छे सगीतज्ञ एव काव्य मर्मज्ञ थे। इनके द्वारा रचित 600 पद प्राप्त हैं। ये विशेष रूप से राधा कृष्ण के श्रृगार व बाल लीला के पद लिखते थे।

इत कोकिला कोलाहल कूजत, बजत किंकिणी जाल।
गोविन्द प्रभू की वानिक निरखत मोहि रहि व्रज बाल।।

छीतस्वामी गोवर्धन के निकट पूँछरी नामक स्थान मे एक तमाल वृक्ष के नीचे रहते थे। काव्य और सगीत इन्हें अत्यन्त प्रिय था। उनके लगभग 200 पद 'पदावली में सकलित हैं। इनकी कविता भक्ति भाव से पूर्ण है।

अहो विधना तो पे आचरा पसार माँगू।
जनम जनम दीजो मोहि याहि व्रज वासनौ।।

चतुर्भुजदास कुम्भनदासजी के छोटे पुत्र थे। वे गान विद्या में निपुण थे। इनके स्फुट

पद सकलित कर "चतुर्भुज की तीन सग्रह" आदि में प्रकाशित है। कृष्ण जन्म से लेकर गोपी विरह तक के पद लिखे हैं -

> चतुर्भुज प्रभु श्री गिरिधारी की स्वरुप सुधा
> पान कीजिए कीजिए, रहिए सदा ही सरन

श्रीभट्ट निम्बार्क सप्रदाय के प्रसिद्ध कवि है। इनकी व्रज भाषा की पुस्तक युगल शतक" में 100 पद सग्रहीत हैं। इन्हों ने राधा कृष्ण की युगल लीलाओ एव प्रेम की मधुर अभिव्यक्ति की है। राधा और कृष्ण एक दूमरे के इतने समीप हैं, जिस प्रकार नेत्र और नेत्रों में दर्पण झलकता है। उनके नयन सदा इम दिव्य प्रेम को देखना चाहते हैं।

> निरखत रहो सदा हित कारिनि, पिय प्यारिनि की गुन मति माढ़ी।
> श्रीभट्ट उतकट सकट मुख केलि सहेलि निरन्तर बाढ़ी।।

हितहरिवशजी राधा बल्लभ सप्रदाय के अनुयायी थे। श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त एव सस्कृत भाषा के विद्वान् थे। इनके दो हिन्दी ग्रथ हित चौरासी एव स्फुट पद और सस्कृत ग्रथ राधा सुधानिधि और यमुनाष्टक उपलब्ध हैं। वे राधा को अपना गुरु मानते थे। हरिवशजी की वाणी भक्ति रस से परिपूर्ण थी। उनकी कविता साधन रूपा है। उनका साध्य तो राधा-भक्ति द्वारा आत्म तृप्ति या साक्षात्कार है। इनकी भाषा अत्यन्त प्राजल और रमणीय है। व्रज भाषा में सस्कृत शब्दावली को अत्यन्त कोमल पदावली में व्यजित करते हैं।

> रसना कटो जु अनरटौं, निरखि अनफटौ नैन
> श्रवन फुटौ जुअना सुनो, बिन राधा यस बैन।।

उपरोक्त दोहे में उनकी राधा के चरणों में दृढ़ निष्ठा व्यक्त होती है।

स्वामी हरिदास जी सखी सप्रदाय के प्रवर्तक हैं। इन्होंने कोई दार्शनिक मतवाद के ग्रथ का प्रणयन नही किया वे तो रस मार्ग पर निरन्तर सचरण करते थे। उनकी लिखित दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं सिद्धान्त के पद' एव केलिमाल"। सखी सप्रदाय का रूप और प्रेम का सिद्धान्त" प्रेम दर्शन का विशेष रूप से निरूपण करता है। केलिमाल में स्वामीजी निकुज बिहारी की रसमयी लीलाओं का मृदुल चित्र अकित करते हैं। यह तो श्यामा और श्याम की "केली" की माल है।

हरिदासजी की सभी रचनाएँ श्रृगार रस के अन्तर्गत आती हैं जिसमें सयोग ही सयोग

है, इसमें वियोग होता ही नहीं है। स्वामीजी की वाणी में ऋजुता है, जहाँ अलकार सहज रूप से आते हैं -

ज्यों - ज्यों न्योछावर करी प्यारी तो पर
कोह में तू मूकी, कहत श्याम घन॥

गदाधर भट्ट चैतन्य सत के अनुयायी थे। वे भागवत के अच्छे विद्वान थे। वे राधा और *कृष्ण की किशोर लीलाओं के गायक थे। इनकी भाषा सस्कृत के माधुर्य* से युक्त होते हुए प्रवाह पूर्ण है। यही कारण है उसका विशेष गुण माधुर्य है। इनके मात्र 85 पद उपलब्ध हैं -

''कृष्ण-अनुराग-मकरद की मधुकरी
कृष्ण-गुण गान रस सिन्धु बोरी॥

मीराबाई काव्य रचनाएँ भारत में सर्वत्र बड़ी श्रद्धा एव प्रेम के साथ गाई जाती हैं। वे हिन्दी ब्रजभाषा, राजस्थानी एवम् गुजराती, चारों भाषाओं में पद्य रचना करती थीं। मीरा बाई का काव्य हृदय से निकले हुए शुद्ध आध्यात्मिक भावों का परम उच्छ्वास है। *सहजता आत्म सर्मपण, दृढ़ आस्था एव अनन्य भक्ति,* इनके पदों में प्रखर रूप से अभिव्यजित हुई है। इन पदों को गाकर भक्तगण श्रीकृष्ण की भक्ति सुधा का आनन्द प्राप्त करते हैं -

''मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई''

रसखान वल्लभ सप्रदाय के आचार्य विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। वे कृष्ण के अनन्य भक्त थे और भगवान की प्रेम माधुरी का अत्यन्त कोमल एवम् रसात्मक वर्णन करते हैं। इनकी रचनाएँ 'प्रेम वाटिका', दानलीला', अष्टयाम' आदि पुस्तकें उपलब्ध हैं। इनके सवैयों में अभिव्यजित प्रेमोद्गार अत्यन्त मोहक है और भक्ति से परिपूर्ण। कैसे मुग्ध हो जाते हैं *कवि बालकृष्ण की छवि देखकर* -

वा छवि को रस खानि विलोकत वारत काम कला निधि कोटी।
काग को भाग बड़ो सजनी हरि हाथ सों ले गयो माखन रोटी॥

रीतिकाल में भी यह भक्तिधारा प्रवहमान रही लेकिन इसमें भक्ति के साथ साथ शब्द चमत्कार अधिक मिलता है। भक्ति काव्य की परपरा अविरल रूप से आज तक

चलती आ रही है। भारत के सभी प्रदेशों में, सभी भाषाओं में, इसका मानवीय सवेदन जन-जन के हृदय को स्पर्श करता है। आज भी लोग कबीर के पदों को तुलसीकृत रामायण के दोहे एव चौपाइयों को, विनय पत्रिका के भजनों को, मीराबाई के समर्पण पदों को, सूरदास के लालित्य पूर्ण पदों को, रसखान के सवैयों आदि को गा - गा कर आनंदित होते हैं। भक्त कवि मानते हैं कि श्रीराम और कृष्ण की लीला भूतकाल में नहीं हुई थी, वह तो नित्य लीला है जो निरन्तर चलती रहती है। ये अतिकलौकिक एवम् अप्राकृत लीलाएँ वास्तव में मानव हृदय में ही होती हैं। जैसे - जैसे मानव में आध्यात्मिकता का विकास होता है, इन लीलाओं की अनुभूति स्पष्ट होने लगती है। विवेकानन्द कहते हैं मानव में निहित दिव्य तत्व का उजागर करना वस्तुत धर्म है' आध्यात्मिक विकास है -

यही भाव सवेदन के स्तर पर भक्ति द्वारा सम्पन्न होता है। आज के सत्रस्त वातावरण में जहाँ चतुर्दिक विभीषिकाएँ व्याप्त हैं, हिंसा और उग्रवाद का उत्तरोत्तर विश्वव्यापी प्रसार हो रहा है मनुष्य मनुष्य में विश्वास, आस्था और प्रेम क्षीण हो रहा है, समस्त सुविधाओं के मध्य मनुष्य अपने को असुरक्षित पाता है, भारतीय सतों की वाणी उसमें प्रेम, आस्था अहिंसा एव मैत्री द्वारा मानवता को एक सूत्र में बाँधने में सक्षम होगी, इसके अतिरिक्त मानवता को परित्राण नहीं है। सतवाणी ही मानव को दुर्बलताओं से मुक्त कर अध्यात्म के पथ पर चलते हुए उसे तदाकार का आनन्द प्रदान करने में सक्षम है। यही सारे विश्व को पुन नीड बनाकर सुख शान्ति प्रदान कर सकती है।

संस्कृति : एक चिन्तन

सस्कृति सर्जन प्रिय एव बहु-आयामी शब्द है। इसकी विविध दृष्टियों से व्याख्याएँ हुई है और विद्वानों ने इस पर बहुत कुछ लिखा है। सस्कृति विचार, दर्शन तथा आचार धर्म दोनों का समन्वय करती है। सस्कृति में विचारों की शुष्कता मधुर होकर प्रवाहित होती है। सस्कृति एक सरिता की तरह है—जिसका एक छोर दर्शन की वैचारिकता है और दूसरा छोर धर्म—आचार की विधि निषेधात्मकता। इन दोनों के बीच सस्कृति की सलिल धारा बहती हुई आनन्द के सागर मे मिल जाती है और दोनों पक्षों का समन्वय करते हुए जीवन को रसमय बनाती है।

सस्कृति सस्कृत' भाषा का शब्द है और व्याकरण के आधार पर इसकी परिभाषा भूषण-भूत सम्यक् कृति' है। जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन में सर्वांगीण उन्नति करता हुआ सुख-शाति प्राप्त करे वे चेष्टाएँ ही उसके लिए भूषण-भूत चेष्टाएँ कही जा सकती हैं। दूसरे शब्दों मे मनुष्य की आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल चेष्टाएँ ही भूषण-भूत सम्यक् चेष्टाएँ है। सार रूप मे कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही सस्कृति है। सहज शब्दा में कर्म या व्यक्ति को सँवारने की क्रिया ही सस्कृति है।

सस्कृति मानवीय मनोभावो की अभिव्यक्ति है और उन्नयन है। सस्कृति की यात्रा अन्तर्मुखी है यानी जो हमे आत्मा की ओर ले जाती है जो हमें उदार, उदात्त एव सहिष्णु

बनाती है, वही सस्कृति है। सस्कृति का एक क्षेत्र मानवीय सौन्दर्यबोध एव रसोद्रेक है। सस्कृति हमारे हृदय से जुड़ी हुई है, अत सस्कृति के अन्तर्गत साहित्य है, कला है। नृत्य, चित्र और शिल्प आदि अपने विधि रूपों एव भगिमाओं से सस्कृति में रूपायित होते हैं।

हमारे जीवन में विचार का महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे मनीषियों, आचार्यों एव चिन्तकों ने अपने बौद्धिक एव प्रज्ञात्मक उपलब्धियों से दर्शन एव विज्ञान को समृद्ध किया। सस्कृति का सौन्दर्य इसी में है कि ये विचार, भाव के स्तर पर छद, लय, राग एव रग के माध्यम से सर्वजन के लिये सवेदनीय बनाये जाय। शकराचार्य के अद्वैतवाद को दार्शनिक स्तर पर समझना कठिन है और यह विद्वत्-मडली तक ही सीमित है परन्तु उनके मधुर स्तोत्र सर्वजन-ग्राह्य हैं। उनके विचार सत कवि कबीर, ज्ञानदेव तुकाराम आदि की वाणी द्वारा लोक-मानस में तरगित हुए हैं। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, भक्त-कवि तुलसीदास जी की रचनाओं से और श्री बल्लभाचार्य जी का शुद्धाद्वैत, अष्टछाप के यशस्वी कवियों की रसमयी तथा सगीतमयी वाणी से जन-जन तक सवेदनीय बन सके हैं। सस्कृति वह भावधारा है जिनमें विचारों की सरस्वती अदृश्य रहकर ही प्रवाहित होती रहती है।

सस्कृति राष्ट्र की आत्मा है। वह देश और जाति की अखण्ड-चेतना का सनातन-स्वरूप है। देश काल एव परिस्थितियों के अनुसार सस्कृति यथा-समय बहिरग बदलती दिखलाई देती है, परन्तु इसकी मूलभूत विशेषताएँ अक्षुण्ण ही रहती है। सस्कृति एक विशाल वृक्ष है, जिसकी जड़ें मजबूत है। ऋतुओं के परिवर्तन के साथ अर्थात् आँधी, शीत एव गर्मी से वृक्ष के बाहरी स्वरूप मे तो परिवर्तन आ सकता है परन्तु यदि उसकी जड़े मजबूत हैं और उनमें कोई खराबी नहीं है तो वृक्ष की अवस्था में भले ही समयानुकूल परिवर्तन हो परन्तु उसके अस्तित्व को कोई खतरा नही।

सस्कृति के रूप एव स्वरूप को समझने के लिये आवश्यक है कि हम उसकी सीमा-रेखा का निर्धारण करें। अत सस्कृति के अन्तर्गत धर्म सस्कार, सभ्यता, कला और साहित्य तक ही विषय को सीमित कर उसका विवेचन किया गया है। सस्कृति में तो समग्र मानवीय चेतना समाई हुई है जिसमें दर्शन, विज्ञान, समाज-शास्त्र इत्यादि सब आ जाते हैं।

सस्कृति हमारे हृदय से सम्पृक्त है। इसका अभिप्राय यह है कि सस्कृति मानवीय मनोरागों की अभिव्यक्ति तो है ही किन्तु इससे भी आगे बढ़कर वह मनोरोगों का परिष्कार

करती है, उन्नयन करती है, जिससे जीवन में स्वारस्य एव सामरस्य उद्भूत होता है। यदि हम सस्कृति का लक्ष्य मनोभावों का उदात्तीकरण मान लेते है तो स्पष्ट है सस्कृति को श्रेय एव प्रेय के समन्वय भाव की यात्रा करनी है। सस्कृति का लक्ष्य है—धरती ऊँची उठे और आकाश नीचे झुके। इसी मिलन-बिन्दु पर सस्कृति की सार्थकता है। सस्कृति नई दीप्ति और अभिनव आभा प्रदान करती है।

> कम कर दी दूरता कौमुदी ने, भू और गगन की,
> उठी हुई सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है। (दिनकर)

यहाँ हम कौमुदी' के स्थान पर सस्कृति' कह कर अपने भाव को व्यक्त करने के आकाक्षी हैं।

जैसे सस्कृति की परिभाषाएँ अनेक हैं, इसी प्रकार सस्कृति के निर्मातृ-तत्व भी विचारकों की दृष्टि में एक समान नहीं हैं। सस्कृति का मूल उद्भव कहाँ से है, यह भी विचारक मानते हैं कि सस्कृति का मूल जन्मजात वश-परम्परा से उत्पन्न सस्कारों में निहित है और इन्हीं सस्कारों का प्रतिफलन व्यक्ति के चरित्र में होता है। दूसरे मत वालों को ये विचार मान्य नहीं हैं। उनका कहना है कि सस्कृति में स्वय ही उसके अर्जित करने की प्रक्रिया निहित है। निरन्तर अभ्यास द्वारा जो सस्कार विकसित किए जाते हैं, वह सस्कृति है। शिक्षा, नैतिकता, आचरण की पवित्रता तथा समाज में सद्व्यवहार की विशेष अपेक्षा रहती है। उनका मत है कि आभिजात्य तथा कुलीनता तो व्यक्ति को जन्म से प्राप्त हो ही जाती है किन्तु सस्कृति उसे ससार में रहकर सस्कारों द्वारा अर्जित करनी होती है। कोई भी व्यक्ति जन्मत ज्ञानवान्, विवेकी तथा शिक्षित नहीं होता। अत जन्म-परम्परा मात्र से सस्कृति का अविच्छिन्न सम्बन्ध नही माना जा सकता। जो समाज पुनर्जन्म में विश्वास करता है उसके दृष्टिकोण से पिछले जन्म के सस्कार भी उसे सुसस्कारित अथवा सस्कारहीन बनाते है।

तीसरी कोटि के विचारको का कहना है कि सस्कृति प्रतिभाजन्य ईश्वरीय वरदान है, और यह वरदान जाति सम्प्रदाय, वर्ग आदि की अपेक्षा नही करता। अकुलीन या निम्नवर्ग में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी प्रतिभाशाली एव सुसस्कृत हो सकता है। इसके विपरीत ज्ञान-विज्ञान कला और साहित्य में अद्भुत क्षमता रखने वाले सभी व्यक्ति सुसस्कृत नहीं होते। कतिपय विलक्षण विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्तियों का चरित्र भी इतना सस्कृति-विहीन और अशिष्ट पाया जाता है कि उन्हे सुसस्कृत नहीं कहा जा सकता। सस्कृति

की पूर्णता के लिए धन-वैभव, प्रतिभा, विद्या, कला, ज्ञान-विज्ञान आदि से सम्पन्न होना ही पर्याप्त नही है। उसके लिए व्यवहार की पवित्रता, मानवीय सम्वेदना, सहिष्णुता, अहिंसा और क्षमाशीलता आदि गुणों की भी व्यापक आवश्यकता है। वास्तव में सस्कृति का विस्तार इतना व्यापक है कि इसे हम न तो जन्मजात कह सकते हैं और न विद्वत्ता या प्रतिभा के आधार पर उसकी अनिवार्यता सिद्ध कर सकते हैं। सस्कृति का क्षेत्र विशाल है। इसलिए विद्वानों के विचार भी गहन और विविध हैं।

सस्कृति के सम्बन्ध में एक बात पर सभी विद्वान् सहमत है—सभी विचारक यह मानते हैं कि मानवेतर प्राणियों में सस्कृति नहीं होती। सस्कृति मानव की अपनी विशेषता है और सस्कृति की अभिव्यक्ति करने के लिए उसके पास साधन हैं। कला, दर्शन, साहित्य आदि इसी कोटि में आते हैं, जो मानवेतर प्राणियों के पास नहीं होते। सस्कृति के सपोषण में सैकड़ों वर्ष लगते हैं और विविध सस्कारो एव रीति-रिवाजों से छन-छनकर सस्कृति अपना रूप धारण करती है। यह एक ऐसी सम्पदा है जो राष्ट्र को प्रकाश देती है, आत्मविश्वास उत्पन्न करती है और उसे आशावादी तथा उत्कर्षगामी बनाती है।

जीवन गतिशील एव सतत प्रवाही है। उसके वाह्य रूप में परिवर्तन होते रहते हैं। सस्कृति का भी बाह्य रूप बदलता रहता है और सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में निर्मित होता है, वह शाश्वत नहीं है। सस्कृति का आन्तरिक स्वरूप शाश्वत है। मनुष्य को जीवत रखनेवाली जो भी उदात्त मनोवृत्तियाँ और क्रियाएँ हैं, वे सस्कृति के अग है। परन्तु सस्कृति उन विषयों के प्रति भी उदासीन नहीं हो सकती, जिनका आधार भौतिकता है। सस्कृति की शाश्वतता उसकी गतिशीलता में है। वह तो जीवन-मूल्यों की निरतर खोज है। सस्कृति की चेतना चले आ रहे मूल्यों की पहचान और स्वीकृति मात्र नहीं है, अपितु चेतनीय-सस्कृति एक जिज्ञासु-भाव भी लिए रहती है और यह भावना ही उसकी जीवन्तता का मापदण्ड है। मूल्यो का पारस्परिक स्वीकार, उनका मूल्याकन एव बुद्धि की कसौटी पर परख कर उन्हें स्वीकारने की निष्ठा ही गुण हैं, जो परिवर्तित वाह्य-चेतना के बावजूद उसकी चिरतनता को अक्षुण्ण रखते हैं। जो सस्कृति अन्य सस्कृतियो की विशेषताओं को आत्मसात् कर सकती है वह कभी पुरानी नहीं पड़ती। परिवर्तनों के मध्य वह सनातन बनी रहती है। भारतीय सस्कृति की यही एक बड़ी विशेषता है कि वह चुनौतियों का सामना करते हुए निरन्तर अग्रसर होती रही है।

जिस प्रकार प्रकृति त्रिगुणात्मक है—दैवी, मानवी और आसुरी, उसी प्रकार सस्कृति पर भी इन तीनों गुणों का प्रभाव पडता है। आसुरी प्रकृति क्रूरता और हिंसा के बल

पर सत्ता प्राप्त करने की वृत्ति है, देव प्रकृति भोगवादी है और मानववृत्ति लोभ-मूलक है। जब हम हिंसक-प्रवृत्तियों को दया और सहिष्णुता से, भोगवादी प्रवृत्तियों को सयम और आत्मानुशासन से तथा सग्रह-खोरी लोभमय प्रवृत्तियों को दया और सहिष्णुता की सम्वेदना से परिष्कृत करेंगे, तभी वे सस्कृति प्रधान होंगी अन्यथा वे राजसी और तामसी हो जाएँगी। तामसी होने पर तो वे विकृत हो जाती है।

सास्कृतिक विकास के लिए देश और समाज में शाति का वातावरण अत्यन्त अनुकूल रहता है। युद्ध की विभीषिकाएँ तो सास्कृतिक-विकास को अवरुद्ध ही करती हैं। परन्तु जहाँ सास्कृतिक चेतना प्रबल होती है, वहाँ विषम परिस्थितियों मे भी महापुरुष जन्म लेकर सस्कृति के प्रकाश को देदीप्यमान बनाए रखते हैं। भारत ऐसा ही देश है। यहाँ महाभारत-काल मे श्रीकृष्ण, मध्यकाल में सूरदास, तुलसीदास और कबीर तथा वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द आदि महापुरुषों ने त्याग की महत्ता पर ही बल दिया है। मानव मे तो त्याग स्पर्धा ही प्रमुख है। यही भारतीय सस्कृति की चिरतनता का प्रमुख गुण है।

सस्कार और सस्कृति

भारतीय दृष्टिकोण से सस्कारों के आधार पर चलने से ही व्यक्ति सुसस्कृत हो सकता है। सस्कार और सस्कारोपयुक्त वृत्तियाँ दोनों ही सस्कृति शब्द के अन्तर्गत आते हैं। भारतीय मनीषियों ने सस्कार के तीन रूप माने है—दोषापनयन गुणाधान और हीनागपूर्ति अर्थात् जीवन में जो दोष हैं, उन्हें दूर करने के लिए, जिन गुणो का अभाव है, उनको लाने के लिए और जो कमी है उसकी पूर्ति करने के लिए हमारी जो क्रियाएँ होंगी वे सब सस्कार हैं और ये सस्कार ही हमें सुसस्कृत बनाते हैं। अत हम कह सकते है कि जैसी खान से निकले हुए हीरे एव मणि आदि मे सस्कार द्वारा शोभा बढ़ाई जाती है, वैसी ही हमारे व्यक्तित्व एव अन्तरात्मा की शोभा सस्कारों द्वारा बढ़ाई जाती है। अन्तरात्मा को निम्न-स्तरों से मुक्त करके उसे उन्नत स्तरों से सम्बन्धित करने में ही अन्त करण का सस्कार है। इन सस्कारों के उपयुक्त वृत्तियाँ ही सस्कृति है। धार्मिक एव सामाजिक दृष्टिकोण से भारतीय परम्परा में प्रमुखत १६ सस्कार माने गये हैं, जो गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त चलते है। सुसस्कृत होने के लिए इन सस्कारों का पालन अत्यावश्यक है। व्यक्ति के क्रमिक सुधार की जीवन-व्यापी प्रक्रियाएँ सस्कार है और उनकी सामाजिक जीवन में सरस अभिव्यक्ति ही सस्कृति है।

सस्कृति' का अर्थ समझने के लिये सस्कार शब्द विचारणीय है। सस्कार का अर्थ

शुद्ध करना, साफ करना, उज्ज्वल करना, भीतरी रूप को प्रकाशित करना है। मनुष्य के जो सस्कार होते हैं, उनमें कुछ क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं। फिर भी सस्कारों का उद्देश्य विशेषत मानसिक और आध्यात्मिक होता है। उनमे रूढियाँ या बाहरी बातें गौण होती हैं और मुख्य लक्ष्य यही होता है कि जिस व्यक्ति का सस्कार किया जाय, उसके मन और बुद्धि पर अच्छा प्रभाव पडे। जब हम किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि वह सुसस्कृत है या उसके सस्कार अच्छे है, तब हमारा आशय उस व्यक्ति की बाहरी बातों से इतना नहीं होता, जितना कि उसकी सद्भावना, सच्चरित्रता तथा सद्व्यवहार से होता है। इन्ही की प्रेरणा से वह व्यक्ति अपने विविध सत्कार्य करता है या अपने सद्गुणों का परिचय देता है।

सस्कृति हमारे आन्तरिक गुणों का समूह है, वह एक प्रेरणा-शक्ति है। सस्कृति हमारे सामाजिक व्यवहारों का निश्चित करती है हमारी भाषा उसके साहित्य को विकसित करती है। सस्कृति बतलाती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्तवृत्तियों का कितना विकास कर पाये हैं। ममता तो प्राणी मात्र का स्वाभाविक गुण है। परन्तु जहाँ एक आदमी की ममता अपने परिवार तक सीमित रहती है वहीं दूसरे की ममता अपने परिवार से बाहर के दु खी व्यक्ति तक भी पहुचती है और तीसरे की ममता तो अपने शत्रु से भी सद्व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। इससे अवश्य ही एक से दूसरा और दूसरा से तीसरा व्यक्ति अधिक सुसस्कृत कहा जाएगा।

जीवन-प्रवाह में जो उदात्त तत्व आते हैं, वे सस्कार बनकर उसके अन्त करण में स्थान ग्रहण कर लेते हैं। ये सस्कार समय के साथ-साथ परिष्कृत भी होते रहते हैं। परिष्कार की इस प्रकिया ने मनुष्य को श्रेष्ठ बनाया है और यही प्रक्रिया सस्कृति कही गई है। सस्कृति मनुष्य को अन्त और बाह्य दोनों को परिमार्जित कर उसे श्रेष्ठ बनाती है। सस्कृति में केवल व्यवहार की श्रेष्ठता ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि अन्तकरण सस्कारित हुए बिना श्रेष्ठ व्यवहार भी एक छलना है। उसमें सहजता और स्थायित्व का अभाव होगा। व्यवहार के क्षेत्र में जिस श्रेष्ठता का परिचय देते हैं, अपने अन्तस् को भी उसी के अनुरूप बनाने की चेष्टा करना आवश्यक है। सस्कृति का सम्बन्ध जीवन-मूल्यों एव सामाजिक-निष्ठा से है। सस्कृति में अन्त और बाह्य का समन्वय नितान्त आवश्यक है। यही सस्कृति का मूल मन्त्र है जो हमें निरन्तर सस्कारित करता रहता है। इसकी आधारशिला मानवीय मूल्य एव सम्वेदना है।

परम्परा और सस्कृति

सस्कृति और सस्कारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सस्कार न तो आकस्मिक हैं, न वैयक्तिक और न अल्पकाल-साध्य हैं। सस्कार दीर्घकाल के प्रभाव का परिणाम है। सस्कार के पीछे सामाजिक चेतना है। इसकी उपयोगिता सभी को स्वीकार है। सस्कार विवेकजनित हैं और शनैःशनै लोगों द्वारा अनुकृति से ग्रहण किये जाते हैं। तब एक परम्परा बन जाती है। समाज में कला, साहित्य, खान-पान वेष-भूषा और व्यवहार सभी की एक परम्परा होती है जो सस्कृति में प्रतिबिंबित होता है। परम्परा जब भावना से हट जाती है तो वह रूढ़ि बन जाती है। रूढ़ि अन्धानुकरण है। उसमें विवेक का प्रकाश नहीं रहता। हम उससे चिपटे रहते हैं और उसे छोड़ने का साहस भी नहीं कर पाते। सामाजिक रीति रिवाज जब उपयोगिता खो देते है तो वे रूढ़ि बन जाते हैं फिर हम लकीर के फकीर बने रहते हैं।

परम्परा तो आजीवन उपयोगी है और सामाजिक शक्ति को दिशा देती है। परम्परा का अर्थ है श्रेष्ठ को श्रेष्ठतर बनाते चलना। विकास की स्वस्थ बहती धारा ही परम्परा है और इस धारा का अवरुद्ध रूप ही रूढ़ि है। रूढ़िया युग-सापेक्ष होने के कारण बनती-बदलती रहती हैं। परम्परा हमारी सस्कृति की अमूल्य धरोहर है और हमारी अस्मिता की द्योतक है।

सभ्यता और सस्कृति

सस्कृति और सभ्यता का आपसी सम्बन्ध आदिकाल से चला आ रहा है। इनमें गहरा सम्बन्ध होते हुए भी ये एक दूसरे से भिन्न हैं। सस्कृति आभ्यन्तर तथा सभ्यता बाह्य तत्व है। सस्कृति को अपनाने मे देर लगती है परन्तु सभ्यता की नकल की जा सकती है। श्रेष्ठ भवन सुन्दर पोशाक स्वादिष्ट भोजन तथा इनके समान अन्य स्थूल वस्तुएँ सस्कृति नहीं हैं। लेकिन भवन निर्माण में तथा भोजन सिद्ध करने में जो कला है वह सस्कृति का गुण है। भवन अथवा अन्य पदार्थ के निर्माण में, रुचि का परिचय देने में एव उनकी रचना में जो ज्ञान रहता है उसे अर्जित करने में सस्कृति अपने को व्यक्त करती है। सार रूप में मानव का प्राण सस्कृति है और उसकी देह सभ्यता।

प्रत्येक सभ्य मनुष्य सुसस्कृत ही होगा ऐसे नहीं कहा जा सकता। उसका अन्तःकरण निम्न-कोटि का भी हो सकता है। यह बात सस्कृति के प्रतिकूल होगी। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक सुसस्कृत व्यक्ति सुसभ्य ही होगा क्योंकि सभ्यता

की मुख्य पहचान भौतिक सुख-सुविधा से है। ऐसे अनेक लोग मिलेंगे, जो अत्यन्त गरीबी की अवस्था में जीवन यापन करते हैं, जिनके पास सुख-सुविधा नहीं है फिर भी वे विनयी, सदाचारी एव पर-दुखकातर है। प्राचीन भारत में हमारे ऋषिगण वनों में घास की कुटिया में निवास करते थे फिर भी वे केवल सुसस्कृत ही नहीं थे बल्कि उन्होंने हमारी सस्कृति का निर्माण किया है।

सस्कृति और सभ्यता की प्रगति सामान्यत एक साथ होती है और एक का दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता है। जब हम कोई घर बनाते हैं तो स्थूल रूप से यह सभ्यता का कार्य होता है, मगर हम कौन सा नक्शा पसन्द करते हैं, इसका निर्णय हमारी सास्कृतिक रुचि करती है। सस्कृति की इस प्रेरणा से जो घर बनता है, वह फिर हमारी सभ्यता का अग बन जाता है। इस प्रकार सभ्यता का सस्कृति पर और सस्कृति का सभ्यता पर, परस्पर पड़ने वाला प्रभाव निरन्तर चलता रहता है।

सस्कृति का सभ्यता की अपेक्षा अधिक महत्व है। वह सभ्यता के अन्दर इस तरह व्याप्त है, जैसे फूल में सुगध। सस्कृति वह गुण है जो सभ्यता की अपेक्षा अधिक समय तक चलता है। सभ्यता की विविध सामग्री समय पाकर विनष्ट भी हो सकती है, लेकिन सस्कृति का विनाश जल्दी सम्भव नहीं होता।

सस्कार या सस्कृति वास्तव में आन्तरिक गुण है, जबकि सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से है। उनका सम्बन्ध शरीर के साथ ही टूट जाता है। सस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलता है। सभ्यता और सस्कृति के मध्य विभाजन-रेखा खींचना कठिन नहीं है। सस्कृति मानव-समाज के विकास की द्योतक है और उसका सम्बध चिन्तन, मनन तथा आचरण की उदात्तता में है। सभ्यता का तात्पर्य मनुष्य के भौतिक उपकरणों, आविष्कारों तथा समृद्धि का अगीकार है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति के उपकरणों का सयोजन सभ्यता है और अन्त प्रकृति का सयोजन सस्कृति। सभ्यता बाह्य आवरण है जबकि सस्कृति अन्त चेतना है।

इसीलिए राष्ट्र की प्रकृति की पहचान उसकी सस्कृति से होती है और सभ्यता उस राष्ट्र को प्राप्त बाह्य-उपकरणों से जानी जाती है। सस्कृति का लक्ष्य मानवजाति के लिए सारस्वत मूल्यों की खोज है तो सभ्यता का ध्येय मानव-समाज के लिए सुख-सुविधा हेतु साधन जुटाना है। इन दोनों के सामजस्य में ही मानव का विकास निहित है।

धर्म और सस्कृति का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, क्या धर्म सस्कृति का अविच्छिन्न अग है क्या धर्म-विहीन समाज, और सस्कृति विहीन समाज एक ही हैं? इस प्रकार के अनेक प्रश्न इस सन्दर्भ में उठाये जा सकते हैं। वास्तव में धर्म अत्यन्त व्यापक है और वह सस्कृति का प्राण है। धर्म को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है—मुख्यत जिससे अभ्युदय और निश्रेयस् अर्थात् इस लोक का उत्कर्ष और परलोक में कल्याण होता हो, वही धर्म है। मनु ने धर्म के १० लक्षण बताये हैं। जो व्यक्ति और समाज के जीवन को धारण करे, वही सच्चा धर्म है। अत धर्म को हम मानव-धर्म ही कहेंगे। वह सम्प्रदायों से ऊपर उठकर समस्त मानवों के विचारों को उदात्त एव परिपूर्ण बनाता है, वह उत्तरोत्तर विकसित होकर समाज, राष्ट्र एव विश्व-चेतना में व्याप्त हो जाता है।

हम इसे सनातन सस्कृति के रूप में पहचानते हैं। सस्कृति का अन्तिम लक्ष्य मानव को चरम-उत्कर्ष पर पहुचाना है और धर्म की प्रेरणा से ही सस्कृति इस महान् कार्य को सम्पन्न कर सकती है। आज विभिन्न धर्मों का परस्पर आदान-प्रदान हो रहा है, जो विश्व-सस्कृति का रूप धारण कर रहा है। इसमें समष्टि का सम्यक् बोध है, जो निरन्तर सर्वांगीण विकासोन्मुख है। अत धर्म और सस्कृति का अटूट सम्बन्ध है। जब हम विभिन्न सस्कृतियों के इतिहास को देखते हैं तो यह बात स्पष्ट रूप से उभर सामने आती है कि जब-जब समाज में धर्म का ह्रास हुआ और क्रूर अमानुषी प्रवृत्तियाँ बढ़ी हैं तो सस्कृति विनष्ट हो गई। यदि समाज के उतार व चढ़ाव की स्थिति में धर्म सुरक्षित है तो सस्कृति की गरिमा भी स्थिर रही है।

धर्म के लक्षण सस्कृति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इन गुणों से विहीन व्यक्ति सुसस्कृत हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से धर्म और सस्कृति पर्यायवाची बन जाते हैं लेकिन दोनों में कुछ भेद जरूर है। धर्म में जो आचार-पक्ष हैं, वह कर्तव्यबोध है और सस्कृति में उस कर्तव्य के साथ हृदय की भावनाएँ जुड़ी है। धर्मसाधना में व्यक्ति का योगदान रहता है किन्तु व्यक्तिगत साधना के आधार पर हम सस्कृति का स्वरूप निर्धारित नहीं कर सकते। धर्म व्यक्ति-सापेक्ष है और सस्कृति समष्टि-सापेक्ष। धर्म का लक्ष्य व्यक्ति को श्रेष्ठ मानव बनाना है। धर्म सत्र को धारण कर मानव मात्र को सम्वेदन और नैतिकता के स्तर पर एक सूत्र में बाँधने का निरन्तर प्रयास करता है। हम जितने धार्मिक हैं उतने ही सुसस्कृत भी हैं। सस्कृति के मुख पर जो अक्षुण्ण तेज है वह धर्म का ही है। धर्म जितना व्यापक एव सहिष्णु होगा, सस्कृति भी उतनी ही व्यापक और लोकप्रिय हागी।

ऐसी सस्कृति का लक्ष्य सर्वधर्म-समभाव और विश्व-व्यापी मानवीय-एकता ही होगा।

साहित्य और सस्कृति

सस्कृत-साहित्य में मुख्यत सस्कार शब्द ही प्रयोग में आया है। 'सस्कृति' शब्द भी कहीं-कहीं मिलता है। उदाहरण स्वरूप यजुर्वेद में विश्ववारा सस्कृति' का सन्देश प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर शिल्प को आत्मा की सस्कृति' कहा है। आत्म-सस्कृति एक शिल्प है, जिससे यजमान अपना परिष्कार करता है। सस्कृति शब्द का सस्कृत-वाङ्मय में विरल प्रयोग है। सस्कृति के अतीत, वर्तमान और भविष्य साहित्य में जितने प्रखर रूप उद्भावित हैं, उतने स्थापत्य, मूर्ति, चित्र या सगीत में नही। कालजयी केवल कविर्मनीषि की वाणी होती है। भवन ढह जाते हैं, मूर्तियाँ भग्न हो जाती हैं, चित्रों के रग फीके पड़ जाते हैं पर, साहित्य या काव्य नित्यता प्राप्त कर लेता है। शब्द ब्रह्म है वह मृत्युञ्जयी बनकर काल के गरल को पीता है। सस्कृति का व्यापक स्वरूप साहित्यमुखापेक्षी है।

साहित्य का मूल स्तर सत्य, शिव, सुन्दरम् है। इनका सम्बन्ध ज्ञान, भावना और सकल्प की वृत्तियों से है। साहित्यकार सत्य को सुन्दर बनाकर मानव-कल्याण के लिए प्रस्तुत करता है। इसलिए साहित्य सस्कृति का भाग है साहित्य' शब्द की उत्पत्ति सस्कृत भाषा के सहित शब्द से हुई है और उसका अर्थ है एकीकरण और हित सहित'। साहित्य में एकीकरण और कल्याण दोनो भावनाएँ सम्मिलित रहती हैं। साहित्य' शब्द कभी-कभी वाङ्मय के अर्थ में भी प्रस्तुत किया जाता है। राजनीति, अर्थशास्त्र इतिहास, धर्म-दर्शन काव्य सभी इसकी सीमाओं के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य मानव-कल्याण के लिए की गई सुन्दर शब्द-रचना है। उसका निकटतम सम्बन्ध मानव-जीवन से है।

मानव की चेतना को शुद्ध बनाने का व्यापक कार्य सस्कृति करती है और भावना तथा बुद्धि के क्षेत्र में यह कार्य साहित्य करता है। भावों का सस्कार करके साहित्य ज्योतिर्मय-पथ दिखलाता है। सस्कृति समूची जीवन-चर्या और बुद्धि-सम्पदा को प्रभावित करती है। सस्कृति के बाह्य-स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य भी अपना रूपाकार बदलता है। अतीत की सस्कृति के स्वरूप और वर्तमान सास्कृतिक चेतना का प्रभाव ग्रहण कर साहित्यकार नवीन रचना करता है। सस्कृति के स्वरूप का सुस्पष्ट परिचय साहित्य के द्वारा ही होता है। साहित्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। जब-जब सस्कृति के बाह्य-स्वरूप मे असमजस उत्पन्न हुआ है तो साहित्य ने उसमें समन्वय लाने की चेष्टा की है। प्राचीन मान-दण्डों

धारा कुछ मन्द पड़ी हो परन्तु यह विकृति किसी सन्त, महात्मा, मनीषी के द्वारा मिटा दी गई। भारतीय सस्कृति पुन पुन अपने मूल उत्स से विद्युत वेग से उभरती हुई प्रवाहित होती रही है। वह आध्यात्मिक मूल्यों पर आश्रित है। यही इसकी चिरन्तन स्थिरता है। इस प्रकार लोक-सग्रह की भावना और समन्वय की पूर्णता से यह सस्कृति ज्योतिर्मयी है। भारतीय सस्कृति का मूल स्वर व्यापकता या भूमा है। यही इसकी चिरतनता का रहस्य है जो इसे मानव सस्कृति रूप में अभिषिक्त करता है। मानवता का उन्नयन ही सस्कृति का मानदण्ड है। सृष्टि-सरचना में मनुष्य ही सर्वोपरि कृति है—

''नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्''।

कला और सौन्दर्य बोध

कला" शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत पडितों ने कई तरह से की है। कुछ लोग कला शब्द का अर्थ सौन्दर्य , कोमल मधुर या सुख देने वाला मानते हैं। कुछ इसे कल्' धातु अर्थात् शब्द करना , बजना, गिनना से सबधित मानते हैं। कुछ इसे कद् धातु या मस्त करना प्रसन्न करना जोडना मे उचित समझते हैं। इसी प्रकार कई लोग इसका सबध क" धातु से करते हैं। क" सुखम् इति कलम् अर्थात् जो आनन्द प्रदान करती है, वह कला है। कल् और कला शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। वेद काल से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त भारतीय धर्म साहित्य एव जीवन प्रणाली ललित कलाओं से अभिभूत हैं।

सस्कृति एव सभ्यता में कला का तात्पर्य मनोविनोद नहीं है-बल्कि तत्ववाद एवम् कल्पनात्मक विस्तार को महत्व देते हैं। आगम तथा तत्र ग्रथा में कला का दार्शनिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। प्रत्येक कलाकार के मन मे एक आदर्श काम करता रहा है — जिसकी विश्राति भोग में है - वह कला बधन है और जिसका सकेत परम तत्व की ओर है वही वस्तुत कला है। भारतीय कलाकारा ने सास्कृतिक मानसिक और बौद्धक विकास का ध्यान रखकर कला का सृजन किया है और कला को परमतत्व की प्राप्ति का साधन माना है। भारतीय कलाकारो कवियों एव कला मर्मज्ञों के विचार में कला का यही आदर्श बराबर काम करता आया है।

कला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। ऋगवेद में कला के मूल स्रोत अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। चित्रकला का उद्‌भव - यज्ञवेदियों की रेखा - कृतियों से हुआ है, ऋगवेद में वर्णलिपि एवम् चित्रकला के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। सामवेद मे स्वर सगीत का भी उद्‌भव हुआ है - क्रमश कलाएँ लोक जीवन से इतनी सबधित हुई कि कला का अर्थ कौशल हो गया। वेदों और ब्राह्मण ग्रथों एव उपनिषदों मे ललित कलाओं और शिल्प कलाओं का सुन्दर वर्णन मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कला की महत्ता पर प्रसिद्ध उद्धरण है ॐ शिल्पानि शमन्ति देव शिल्पानि। एते वै देव शिल्पाना अनुकृतीह शिल्पम् अधिगम्यते आत्म सस्कृतिवाव शिल्पानि। छदोमयवा एतैर्यनमान आत्मान सस्कुरुते।

-भा० सस्कृति खण्ड। पृ 94

सस्कार- साधन के उद्‌देश्य से जो कर्म किए जायँ उसे सस्कृति का कर्म कहते हैं। वह कर्म निश्चित रूप से छन्दमयता के साथ नियमों - सयमों व अनुशासन में ताल, लय एव सम्यक् रीति नीति को मानकर किया गया हो तभी वह शिल्प कर्म होगा'।

(निहाररजन राय)

यजुर्वेद मे कुम्हार और बढ़ई का स्तवन किया गया है। वैदिक काल से शुरु होकर भारतीय कला क्रमश विकसित होकर बौद्ध काल मे अपनी चरम सीमा तक पहुँच गयी थी। कला शब्द का सबसे प्रथम प्रयोग भरत के नाट्य शास्त्र में मिलता है —

'न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला''

सभवत इसी के आधार पर श्री बलदेव उपाध्याय ने गीत वाद्य नृत्य आदि को कला का वाचक माना है। यदि यह मान लिया जाय तो लगता है कला सगीत की समानार्थी है। पर कला कवल सगीत नहीं है। भरत मुनि द्वारा कला शब्द का अर्थ ललित कला के निकट है और शिल्प शायद उपयोगी कला है। यह जिज्ञासा उठती है कि भरत के पूर्व कला का जब ललित कला या किसी प्रकार के कौशल के अर्थ में प्रयोग नहीं होता था तो या उसके पूर्व भारत में लोग इन कलाओं से अपरिचित थे? इसके उत्तर में प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही कहा जा सकता है। इस अर्थ में अपना यहाँ पुराना शब्द शिल्प था। ब्राह्मण ग्रथों एव सहिताओ में शिल्प शब्द का इसी सदर्भ में प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य एव सस्कृत साहित्य के आधार पर उस काल में शिल्प शब्द का प्रयोग उपयोगी एव ललित दोनों ही कलाओ के लिए होता था। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है - अष्टाध्यायी में शिल्पी शब्द चारु शिल्पी और कारू शिल्पी दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अत हमारे यहाँ शिल्प शब्द का प्रयोग काव्य

के अतिरिक्त अन्य सभी कलाओं मे उपयोगी एव ललित के लिए किया गया है। शायद उस समय तक इन दोनों शब्दों के प्रयोग एव अर्थ का स्पष्ट विभाजन नहीं हुआ था।

कला की गणना-सख्या में सबसे प्रसिद्ध सख्या 64 है। जैन ग्रथों मे कहीं-कहीं पर 72 कलाओं का उल्लेख किया गया है और कहीं पर कला के 86 नाम भी गिनाये गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कला उन सारी जानकारियों या क्रियाओ को कहते हैं — *जिनमें कुशलता और चतुराई भी आवश्यक है।* ललित कला में वास्तु मूर्ति चित्र, सगीत और काव्य ये पाँच कलाएँ रखी जाती हैं — परन्तु भारतीय ग्रथ काव्य को इसमें स्थान नहीं देते हैं। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादक विशेषतया शुक्लजी प्रसादजी, वाजपेयीजी मिश्रजी तथा गुलाबरायजी इत्यादि हैं। उन लोगो के अनुसार भारतीय दृष्टि से विद्या और उपविद्या के दो आधार क्षेत्र हैं - इनमें काव्य का स्थान विद्या में है जब कि कला का उपविद्या में। पर साथ ही अनेक विद्वानों का दृष्टिकोण यह भी है कि काव्य कलाओं के अन्तर्गत है। सगीतज्ञों में यह बात प्रचलित है कि सगीत से रसों की निष्पति होती है। इस दृष्टिकोण से चित्र, सगीत एवम् काव्य की आत्मा एक ही है।

साहित्य को अन्य कलाओ से पृथक् रखा जाय अथवा नहीं, इस विवाद में न पडते हुए यदि साहित्य का आधार रसानुभूति मान ले तो अन्य कलाओ में भी रसानुभूति होने कारण साहित्य को कला मानना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक काल में ललित - कलाओं के अन्तर्गत साहित्य सगीत चित्र मूर्ति तथा स्थापत्य कला को लिया गया है।

अनेक कालों में अनेक विद्वानों द्वारा कला की परिभाषाएँ की गई हैं, उनमें से कुछ निम्नाकित हैं

1 कला सत्य की अनुकृति की अनुकृति है — प्लेटो
2 कला अनुकरण है — अरस्तू
3 कला वाह्य प्रभावों की अभिव्यक्ति है — क्रोचे
4 कला आधिभौतिक सत्ता को अभिव्यक्त करने का माध्यम है — हीगल
5 कला भावों को क्रिया रेखा रग ध्वनि या शब्द द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करना है कि उसे देखने या सुनने वाले के मन में वही भाव जगें — टाल्सटाय

6	कला में मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करता है	—	टैगोर
7	कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है	—	रस्किन
8	कला की सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह किसी प्रकार महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत कर सके	—	गेटे
9	कला दमित वासनाओं का उभरा हुआ रूप है	—	फ्रायड
10	कला भावों का पृथ्वी पर अवतार है	—	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
11	जो स्वरूप को सँवारती है वह वस्तु कला है	—	क्षेमराज

सभी परिभाषाओं तथा कला सबधी विचारो में अभिव्यक्ति प्रधानता रखती है। अभिव्यक्ति किसकी ? इसका उत्तर अलग-अलग हो सकता है। अभिव्यक्ति दो स्तरो पर होती है एक मन में तथा दूसरी इन्द्रिय ग्राह्य रूप में। यह तो निश्चित है कि किसी भी भाव को मूर्तरूप तक आने की प्रक्रिया से पूर्व एक अस्पष्ट अभिव्यक्ति मन म हा जाती है। यद्यपि वह अस्थायी होती है किन्तु उसकी तीव्रता इतनी होती है कि वही तीव्रता मूर्त होकर अभिव्यक्ति होती है। इसलिए मन में होने वाली अभिव्यक्ति एक अदृश्य रूप है जो रचनाकार को कलात्मक सृजन के लिए विवश कर देती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कला भावों की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है। हमारी सभी क्रियाओं में आत्मा की जो अभिव्यक्ति होती है यदि उनमें शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि अहकार का आवरण बना रहता है तो आत्मा की अभिव्यक्ति शुद्ध रूप से नहीं होती। अत जहा आत्मा की स्वतत्र अभिव्यक्ति होती है वही सत्य है वही कला है। स्थूल सामग्री को कलाकृति मे ढाल देने वाले कलाकार की निजस्व उसकी कला मे है। अभिव्यक्ति में आन्तरिक सौन्दर्य से ही कला कृति प्राणवान होती है - इसलिए कला और सौन्दर्य के अभिन्न सबध हैं। सौन्दर्य बोध कला का विशिष्ट गुण है।

सौन्दर्य बोध

सौन्दर्य शब्द का अर्थ और उसका प्रभाव व्यापक है। सौन्दर्य वह है जो हमें आनदित *और मत्र मुग्ध करता है। उसका प्रभाव रुचिकर और सुखद होता है। मानव मन सौन्दर्य* के प्रति आकृष्ट और अभिभूत होता है। किसी भी वस्तु या कृति का सौन्दर्य उसके गुण धर्म से सयुक्त है परन्तु उसकी अनुभूति मानव मन करता है, जो वस्तुत सभी काल में समान रहता है। किन्तु उसका अनुभव करने वाला मन देश काल और व्यक्ति सापक्ष

है। वस्तुगत सौन्दर्य अभिरुचि के अनुमार ग्रहण एव आस्वादित किया जाता है। अभिरुचि तीन प्रकार की होती है।

1 वैश्विक 2 सामाजिक 3 व्यक्तिगत

मौन्दर्य मूलत नेत्रों का विषय है - इनके माध्यम से सुख की अनुभूति देने वाले पदार्थ सुन्दर कहलाते हैं। अत इन पदार्थो का वह जो विशिष्ट गुण अथवा स्वभाव नेत्रों को सुखदायी लगता है वह सुन्दर कहलाता है। सुन्दर शब्द का धीरे-धीरे इतना विस्तार हो गया कि रूप, रस, गध, शब्द तथा स्पर्श आदि अनुभूतियों के लिए भी सुन्दर शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

सौन्दर्य रूप का गुण है। उमका स्वभाव अथवा धर्म वस्तु के रूप और दर्शक के मन के बीच के सबध सूत्र स्थापित करना है। वस्तु की विशिष्टता को मानसिक अनुभूति प्रकाशित करती है और रूप के सौन्दर्य से आत्मा अभिभूत हो जाती है - जैम वीर कम से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप रग की वस्तुएँ ऐमी होती हैं जो हमारे मन मे आते ही थाड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐमा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान हवा हो जाता है और हम उन वस्तुआ की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्त सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। जिम वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुन्दर कही जायेगी। इम विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर वाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही वाहर है।

चिन्तामणि प्रथम भाग पृ 164 65

कुछ विचारक सौन्दर्य शास्त्र को ललित कलाआ तक ही सीमित मानते हैं। तथा कुछ विचारक कला तथा प्रकृति दोनों में सौन्दर्यानुभूति को मान्यता देते हैं। वास्तव में प्रकृति का सौन्दर्य ही ललित कला म व्यक्त हुआ है। प्रकृति के रूप को देखकर चतना आनन्द मे अभिभूत होती है। कलावादियों का तर्क है कि प्रकृति का आकर्षण ऐन्द्रिक है जिममें कल्पना और भावना को जगाने की क्षमता तो हाती है किन्तु उममें पुन मर्जना व अभिव्यजना नहीं हो सकती। दूसरा अत्यन्त प्राचीन तर्क यह है कि लौकिक पदार्थो के अनुभव की रसानुभूति भिन्न होती है क्याकि प्रकृति के साक्षात् अनुभव कुरूप तथा अप्रिय भी हा सकते हैं जब कि कला मे उनकी अभिव्यक्ति सौन्दर्यमयी हो जाती है। प्रकृति के अरुचिकर रूप भी कला के ढाँचे मे ढलकर अथात् कलाकार के स्पर्श मे ढल

कर सुन्दर हो जाते हैं। इसलिए सौन्दर्य के जो प्रतिमान कला में स्थापित किए गए हैं वे अपने मूल रूप में कहीं न कहीं प्रकृति से ही उद्भूत हुए हैं।

सौन्दर्य की पाश्चात्य अवधारणा

सौन्दर्य शब्द का अंग्रेजी पर्याय ब्यूटी है जिसमें रूपाकर्षण लालित्य तथा प्रीति के भाव निहित होते हैं। सुकरात ने मूलत सौन्दर्य का लक्षण प्रीति बताया। प्लेटो ने सौन्दर्य को सार्वभौम माना और उसे चेतना का सौन्दर्य कहा है। कांट ने सौन्दर्य के दो पक्ष विवेचित किए। 1 निरपेक्ष सौन्दर्य 2 सापेक्ष सौन्दर्य। निरपेक्ष सौन्दर्य शुद्ध रूप गत होता है। उसमें उद्देश्य नहीं होता जब कि सापेक्ष सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में कोई प्रयोजन होता है कुछ अर्थवत्ता होती है कई जीवन मूल्य स्थापित होते हैं। हीगल ने सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए उसे दिव्य चेतना की चाक्षुष अभिव्यक्ति माना है। उनके अनुसार सौन्दर्य के दर्शन कला में होते हैं प्रकृति तो सौन्दर्य के प्रति संकेत मात्र करती है।

वस्तुवादी दृष्टिकोण

कई विचारक वस्तु में सौन्दर्य की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य वस्तु के आकार रूपाकृति रंग आदि का विषय है। अत रूप के संयोजन में अनुपात संस्थान (Composition) सन्तुलन वर्ण-योजना आदि सौन्दर्य के तत्व हैं। वास्तव में आत्मवादी तथा वस्तुवादी दोनों विचारक सौन्दर्य के इन आधारों को तो स्वीकारते हैं किन्तु आत्मवादी इन्हें परम सत्ता से जोडते हैं। वस्तुवादी विचारकों के अनुसार कलाकृति का अपना रूप-संसार ही उसका सौन्दर्य है। गेटे ने कलाकार की सर्जना शक्ति को दिव्य एवं ईश्वर के समकक्ष माना है। इस विराट सृष्टि की सर्जना करने वाला ईश्वर स्वयं कला निधि' है। इसलिए कलाकार की प्रतिभा अत्यन्त मांगलिक एवं शुभ है।

सौन्दर्य की भारतीय अवधारणा

भारतीय अवधारणा के अनुसार रुचिर ललित शोभन रमणीय मनोरम कान्त आदि शब्द सौन्दर्य के पर्यायवाची हैं। इन शब्दों में सौन्दर्य के निम्न भाव स्पष्ट होते है —

1 सौन्दर्य का संबंध दृष्टि से है वह चाक्षुष है।
2 सौन्दर्य वस्तु का गुण है जो द्रष्टा की चेतना से जुड़ा हुआ है।
3 सौन्दर्य का संबंध आकर्षण तथा प्रेम की भावना से है।
4 वैदिक साहित्य में सौन्दर्य को मूलत ऐन्द्रिय माना है

और कांति वर्ण तथा ऊर्जा को उसका अंग माना है।

सौन्दर्य की अनुभूति वस्तु से प्रारम्भ होकर रसानुभूति म परिणत हो जाती है। वास्तव में सौन्दर्य की अनुभूति अलौकिक एव कल्याणकारी है। वह चित्त को आनन्द प्रदान करता है। भारतीय दर्शन में सौन्दर्य चैतन्य का आनन्द है और आनन्द आत्मा का स्वरूप ही है। ब्रह्म को सत् चित् आनन्द ही माना है।

सौन्दर्य और कलाकृति

श्रेष्ठ कलाकृति का सौन्दर्य नयनाभिराम होता है। उसमें रचनाकार के आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है तथा वह दर्शक को कलागत सौन्दर्यानुभूति प्रदान करती है। कलाकार रूपो का एक मधुर सयोजन प्रस्तुत करता है तथा द्रष्टा उस चाक्षुष रूप का आनन्द ग्रहण करता है। रचना-प्रक्रिया में भावना का प्राबल्य अत्यन्त आवश्यक है। इसी सघनता से रचना में सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। इसी कारण मात्र तकनीक के ज्ञान से सौन्दर्यमयी रचना नहीं बन पाती। इसी कारण कलाकृति की रचना यांत्रिक सृष्टि नहीं होती वह मानसी सृष्टि होती है। रचना के सृजन में तकनीकी क्रिया का अभ्यास और अनुभव जब तक रचनाकार के व्यक्तित्व से नहीं जुडते कृति म सौन्दर्य रूपी प्राण का सचार नहीं होता। कलाकार का रचनात्मक दृष्टिकोण अत्यन्त मानवीय एव सवेदनशील होना आवश्यक है तभी उसकी कृति विश्व के हर मानव के मानस को अभिभूत करेगी। सवदन के स्तर पर मानव-मानव में कोई भेद नहीं। मानवीय चेतना महान् चैतन्य से सपृक्त है - यही कारण है श्रेष्ठ कलाकृति मानव के भाव जगत को समान रूप से प्रभावित करती है एव आनन्द प्रदान करती है। इस स्तर पर कला सौन्दर्य और सौन्दर्य बोध एक तत्व हो जाते हैं और कलाकृति कालातीत बन जाती है क्योकि वह प्रकृति से प्रेरणा एव चित्रात्मकता ग्रहण करती है।

कला मौलिक रचना

कला प्रकृति और जीवन की प्रतिकृति है अनुकृति है या मौलिक रचना है यह प्रश्न पुराना है। इसी के साथ यथार्थ और आदर्श का प्रश्न जुडा है। कलावाद और जीवन वाद नैतिकता और अनैतिकता आदि सभी प्रश्न इसी मे अनुस्यूत हैं इसलिए कला की मूल प्रकृति और स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है। कला जीवन की प्रतिकृति (फोटाग्राफी) जैसे तो किसी अर्थ में नहीं है। वह केवल अनुकृति ही है। उसे सर्वथा स्वतत्र मौलिक सृष्टि कहना भी निर्विवाद सत्य नहा है। कला को यदि प्रतिकृति माना

जाए तो उसमें नूतनता, अखण्डता आनन्द मूलकता सार्वस्वलिकता एवम् सार्वभौमता आदि गुण नहीं रह जाते हैं। यदि वह यथार्थ का ही चित्र है तो उसमें कलाकार की सर्जनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति नहीं होगी। उसमें सत्य, शिव, सुन्दरम् की प्राणवत्ता नहीं रहेगी। कला को शाब्दिक अर्थों में जीवन — जगत की अनुकृति मात्र मानना भी उचित नहीं है। अनुकृति तो केवल नकल है उसमें कलाकार की आत्मा का प्रकाश नहीं रहता व्यक्तित्व की मोहक छटा नहीं रहती। कला में तो अन्तर्चेतना का नयनाभिराम प्रकाश रहता है अत उसका कलाकार के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सबध है। सर्वथा तटस्थ भाव कला में न तो सम्भव है और न प्रयोजनीय ही। उसका अर्थ यह भी नहीं कि व्यक्तित्व का अभिव्यजन मात्र ही कला है। उसमें तटस्थता एव सतुलन नितान्त आवश्यक है। सम्पूर्ण मौलिकता और स्वतत्रता न होने पर भी कला एक सर्जना है। प्रतिकृति या अनुकृति का हम निर्माण कर सकते हैं क्योंकि उनमें तथ्य-ग्रहण की प्रेरणा कार्य करती है। सर्जनात्मक प्रवृत्ति नहीं रहती। सृष्टि में स्रष्टा अन्त व्याप्त रहता है निर्माण में ऐसा नहीं है। मौलिक दृष्टिकोण एव मानवीय भावनाओं को कला अभिव्यक्त करती है। इसी से कला मानव-मानव में सामजस्य करते हुए आध्यात्मिक मूल्यों की सस्थापना कर सकती है। यही कारण है भारतीय चित्रकारों ने एव मूर्तिकारों ने देवत्व की अपार क्षमताओं को व्यक्त करने के लिए बहु हाथ व शीर्ष का अपनी कलाकृतियों में अकन किया। ''नटराज' की मूर्ति में जो प्राणवत्ता अभिव्यक्त हुई है वह प्रतिकृति या अनुकृति द्वारा प्रस्तुत नहीं की सकती। अपने विचार एव भावों की विराट चेतना के स्तर पर अभिव्यक्त करना कला की श्रेष्ठतम उपलब्धि है।

कला और जीवन

सृष्टि में जीवन के साथ ही कला का भी जन्म हुआ। जब से मानव इतिहास प्राप्य है तभी से कला का गहन सबध उसके साथ द्रष्टव्य है। मानव जगत में कला का स्वरूप जिस प्रकार उसकी प्रवृत्तियों के साथ जुड़ा हुआ है जीव और जड जगत में भी उसी प्रकार उसका यह रूप कण-कण में व्याप्त दृष्टिगत होता है। काल की गति के साथ-साथ कला का वह स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है। मानव प्रवृत्तियों के मूल में कला का निरन्तर विकास होता रहा है। कला और जीवन के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं है। कला जीवन के साथ इस प्रकार घुल मिल गई है कि जीवन की गति के साथ-साथ कलात्मक सृजन स्वयमेव होते रहते हैं। यही कला का व्यावहारिक पक्ष है। कला भी जीवन का एक अविच्छिन्न रूप ही है। इसी प्रकार जीवन के विविध सुख-दु ख तीज त्योहार,

पशु-पक्षी पहाड नदियाँ वृक्ष लता आदि सभी कलाकार की रचनाओं में युगानुरूप सर्जनात्मक स्तर पर अभिव्यंजित होते हैं।

ललित एव उपयोगी कला

ललित एव उपयोगी कलाओं का विभाजन एक निश्चित परिभाषा से नहीं किया जा सकता। जो कला शुद्ध रूप में आनन्द प्रदान करती है, सामान्य रूप में वह उपयोगी नहीं भी हो। उपयोगी वस्तुओं में उपयोगिता की दृष्टि से ही रूप एव आकृति की सरचना होती है। परन्तु यह विभाजन भी भ्रामक है। जिस प्रकार किसी कालीन की बुनावट में बनी हुई कलाकृति उपयोगिता में बाधक नहीं होती —— कुम्हार जब किसी बर्तन को नया रूप देता है तो वह एक उपयोगी कला कृति हो जाती है परन्तु जब वह एक जैसे ही अनेक रूपों को बनाता है तब वह उसका व्यवसायी कार्य हो जाता है क्योंकि इसमें मौलिकता और सहज अभिव्यक्ति नहीं रहती। ऐसे उपयोगी रूपों का निर्माण तो है पर कला गौण हो जाती है। कोई कलाकार अपने कौशल से कलात्मक रूपों का सृजन कर ले फिर भी निरन्तर यन्त्रवत् आवृत्ति किए हुए रूपों में कला की चेतना क्षीण हो जाती है।

निर्जीव मशीनों को चलाने में योग्यता है परन्तु उनमें सुरुचि की सपन्नता नहीं रहती। उपयोगिता के लिए श्रम आगे आता है तथा सृजन की भावना की तीव्रता कम होती है। कुछ विचारकों का मत है कि दस्तकारी वस्तुएँ जो कि दैनिक जीवन में सौन्दर्य की वृद्धि करने वाली होती हैं —— उसमें भी कला है। विलियम मौरिस का कथन है कला दो प्रकार की होती है एक तो वह है जिसकी मनुष्य को आवश्यकता नहीं है फिर भी उसका अस्तित्व है। यह अधिकाश में आध्यात्मिक है। कभी-कभी भौतिक और स्थूल भी इस कोटि में शामिल हो जाती हैं। दूसरे प्रकार की कला वह है जिसकी उत्पति भौतिक आवश्यकताओं के कारण होती है वह भी मानवीय आत्मा की लालसाओं से उतनी ही सबधित होती है तथा उसके प्रवीणता प्राप्ति के प्रयत्नों का इस पर भी प्रभाव पडा है।

उपयोगी वस्तुओं के रूप की कल्पना की गई है कि कला परपरा वशानुगत अथवा शिष्यों के रूप में आगे बढती थी। प्राचीन सभ्यताओं के प्रभाव से कलात्मकता की तीन धाराएँ समाज में विकसित हुईं —— पहली शुद्ध कलाकृति जो सात्विक आनन्द का स्रोत थी जिसमें भौतिक उपयोगिता की कोई बात नहीं थी दूसरी वे वस्तुएँ जो उपयोगी थीं

और कलात्मक भी तथा तीसरा पक्ष वह विकसित हुआ जो मानव ने अपने परिवेश को सुसज्जित एव आकर्षक बनाने के लिए किया - यह लोक कला थी। विभिन्न लोक कलाओं मे हम उसका निखरा हुआ रूप देखते हैं। कितनी प्राणवत्ता है उनके नृत्य चित्र व शिल्प मे। प्राचीन काल मे उपयोगिता से हटकर यह शुद्ध ललित कला के रूप में स्थापित हुई है।

शिल्प और शैली

शिल्प का अर्थ है रचनात्मक क्रिया। प्राचीन ग्रंथों में शिल्प के अन्तर्गत सभी ललित कलाए समाहित थीं। आज अभिव्यक्ति को मूर्त रूप देने में जो तकनीकी कुशलता है उसे शिल्प माना गया है। उस दक्षता मे ही रचनाकार की शैली का निर्माण होता है। रचना में शिल्प तथा शैली दोनो अन्तर्निहित है। शिल्प और शैली इस प्रकार एक दूसरे से घनिष्ट रूप मे जुडे हुए हैं कि उन्हे अलग अलग नहीं देखा जा सकता। दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। कला सौन्दर्य का स्थूल रूप शिल्प मे है तथा सूक्ष्म रूप शैली में समाहित रहता है। शैली व्यक्तिगत शिल्प-योजना की वह धारा है जो रचनाकार की अस्मिता की पहचान बन जाती है। शैली से रचनाकार की पहचान होती है उससे शिल्प उसकी पृष्ठभूमि मे रहती है। शिल्प का अर्थ रचना प्रक्रिया मे है। सृजन की प्रक्रिया मे जो क्रियाये अपनाई जाती हैं उनके सम्पूर्ण विकास को शिल्प विधान कहा जा सकता है। शिल्प के विषय मे विद्वानों के दो मत हैं पहले वे जो शिल्प को साध्य के रूप में मानते हैं तथा दूसरे वे जो शिल्प को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। वस्तुत शिल्प को भाव पक्ष से एक दम पृथक् नहीं किया जा सकता। शिल्प का प्रारभ भावभूमि से होता है तथा विस्तार कलापक्ष में हो जाता है। अत शिल्प और शैली अभिन्न हैं। शिल्प मे प्राणवत्ता को तेज कलाकार अपनी शैली द्वारा सपादित करता है। उसमे वह अपने आपको उडेल देता है। शिल्प और शैली की सुन्दर समरसता में कलाकार का व्यक्तित्व अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करता है।

कला और प्रतीक

भारतीय शिल्प की रहस्यात्मक भाषा को समझने के लिए उसके अन्तर्धर्मी प्रतीकों को पहचानना आवश्यक है। प्रतीको का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। सामाजिक धार्मिक एव सास्कृतिक सामजस्य हम प्रतीका की एक रूपता मे पाते हैं। देश काल और बदलते हुए परिवेश मे प्रतीको में भी परिवर्तन होता रहता है। फिर भी कुछ प्रतीक ऐसे हैं जो सर्वमान्य हैं और कला में इनका व्यापक प्रयोग हुआ है। अत प्रतीक एक

ऐसी कड़ी है जो विभिन्न धर्मों में सामजस्य की भावना को दृढ़ से दृढ़तर बनाती है। कुछ प्रमुख प्रतीक—

कलावृक्ष	— विभिन्न वृक्ष, पशु-पक्षी और उनके काल्पनिक स्वरूप।
आयुध	— धनुष त्रिशूल, वज्र गदा, बाण चक्र।
शाभा चिह्न	— कुम्भ, मगल-कलश स्तम्भ ध्वजा रथ आदि। सूर्य चन्द्र अग्नि वामन मातृका देवगण।
स्वस्तिक	— शुभ प्रतीक हैं सभवत वैदिक स्तुति-वाचन और परस्पर समृद्धि का सूचक है।
कमल	— सुन्दर शोभा चिह्न है। हिन्दू, जैन बौद्ध मूर्तियाँ इस पर आसीन हैं। विभिन्न अवयवा की उपमा कमल मे की जाती है। मुख कमल नेत्र-कमल।
श्री लक्ष्मी	— पद्मवर्णा श्री समृद्धि सूचक है। लक्ष्मी सुख सम्पदा प्रदान करने वाली अधिष्ठात्री देवी है।
श्री वत्स	— इसका अर्थ है लक्ष्मी का पुत्र। इसका विविध रूपा मे विवेचन हुआ है। विष्णु के वक्ष पर वराह के वक्ष पर जैन तीर्थकरो के वक्ष पर, और साँची म पक्ति वद्ध श्री वत्स का प्रयोग हुआ है।
यक्ष	— प्राचीन भारत मे यक्षा की सभी धर्मो मे मान्यता है। इनका यक्ष म घनिष्ठ सबध रहा है। अथर्ववेद मे विराट यक्ष की कल्पना की गयी है। कालान्तर म यह अवधारणा क्षीण हाने लगी और इष्ट और अभीष्ट दोनो वर्गो के यक्ष मिलते हैं।
गधर्व अप्सराएँ	— गुफाओ में उडते हुए देव गधर्व और अप्सराओं की मूर्तियाँ प्रचुर प्रचुर मात्रा मे अकित हैं।

ये सर्व प्रतीक व विम्ब भारतीय पुराण- कथाआ म निहित चिन्तन एव सूक्ष्म सवेदनाओं को व्यक्त करने के अपूव साधन हैं। भारत में सभी धर्मो ने इनको अपनाकर एक आध्यात्मिक समन्वय निरूपित किया है। डा० आर० सी० शमा ठीक कहत हैं भारतीय शिल्प इस अन्तर्धर्मी आदान प्रदान का प्रामाणिक कोश है।

कला एव अध्यात्म

भारतीय कला का इतिहास सर्वत्र अध्यात्म प्रेरित है। प्रागैतिहासिक काल मे मोहनजोदडो मे प्राप्त मूर्तियों मे शिव अपने नदीश्वर के साथ बैठे हुए दिखाई देते हैं। वेदा के मन्त्र देवताओ की स्तुति गान में सगीत एव उत्कृष्ट साहित्य प्रस्तुत करते हैं। नृत्य कला शिव के नृत्य से ही प्रारभ होती है। वेदों में चित्र एव शिल्प के विपुल पक्ष निरन्तर प्रवहमान हैं। उनकी अजस्र धारा अविच्छिन्न रूप से भारतीय कलाओ को रस सिक्त करती रही है। विगत शताब्दियो से हम इनके सतत विकास को देखते आ रहे हैं। साची के स्तूप पर अकित शिल्प मे हाथियों की ऐसी सजीव पक्ति है जिसकी समानता विश्व शिल्प में प्राप्त नहीं होती। बेशनगर के यक्ष दीदार गज की यक्षिणी सारनाथ के तपस्यारत बुद्ध सभी आध्यात्मिक सस्पर्श से आलोकित हैं। अजन्ता की गुफाओं के चित्रो मे तो अध्यात्म स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। हाथी और हथिनी का अपने खोए हुए बच्चे के प्रति वात्सल्य मानवीय वात्सल्य से किसी भी प्रकार कम नहीं है। वियोग का दुख मिलन का सुख यशोधरा द्वारा राहुल का दान अवलोकितेश्वर का शान्त प्रदीप्त मुखारविन्द सभी अध्यात्म मे परिपूर्ण हैं। एलोरा की शिव प्रतिमाए मात्रिकाआ की मूर्तियाँ रावण का हिमालय उठाना गगा की मूर्ति जैन एव बौद्ध शिल्प सभी सामजस्य म एक रस हो गए हैं। मन्दिरा की दीवार पर अकित शिल्प नृत्य मुद्राएँ वाद्य सगीत की विविधता ऊँचे गोपुरम् पर उत्कीर्ण पुराण कथाए नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर पर अकित कालिदास के कुमार सभवम् की मूर्तिया साहित्य सगीत नृत्य एव शिल्प के अध्यात्म से परिपूर्ण हैं। उडीसा एव मध्य भारत के मदिरों मे पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म अर्थ काम मोक्ष सभी पूरी विविधता के साथ रूपायित हुए हैं। जीवन के सभी पक्ष मन्दिरो में कलात्मक वैभव के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। ऐसी विविधता अन्यत्र देखने म नही मिलती।

यही परपरा आगे चलकर लघु चित्रों मे चित्रित हुई है। इनकी अनुपम भावभगिमा अध्यात्म प्रेरित है। राजस्थानी कला कागडा कला बशोहली एव डोंगरी कला सभी पुराण कथाओं का अभिव्यजित करती हैं। इनमे साहित्य सगीत रागमाला एव श्रीकृष्णलीला माधुरी का पूरी भक्ति भावना मे चित्राक्न हुआ है। इमी पद्धति का नवोन्मेष हम अवनीन्द्रनाथ टैगोर एव नन्दलाल बसु के लघु चित्रो म पाते हैं। धीरे-धीरे यह धारा विच्छिन्न होने लगी। आधुनिक चित्रकला मे आकृति भग होने के कारण कला उत्तरोत्तर अमूर्त होने लगी है। अत साधारण जन इसे समय नही पाते। कला म सवेदन की जगह बौद्धिकता प्रधान हो गई है। इसमें तत्र मत्र इत्यादि का अमूर्त चित्रण भी हुआ है। कला में आकृति भग हुई है। काव्य मे छन्द टूट गया है। नीहार राय कहते थे जब जीवन का छद उत्तरोत्तर

टूट रहा है तो कला-कृतियों में रूप और भाव कैसे दृढ़ रह सकते हैं। अतः आधुनिक चित्रकला में रहस्यवादिता बढ़ी है लेकिन अध्यात्म पक्ष पूर्ण रूप से उभर-कर नहीं आता है। इस कमी को कलाकारों को मिटाना चाहिये। कला में अध्यात्म का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से रहना नितान्त आवश्यक है।"

कला और अमरत्व

कला के संदर्भ में अमरत्व की बात बहुधा कही जाती है। हम सभी जानते हैं कि जीवन क्षणभंगुर है— मृत्यु अवश्यम्भावी है। प्रत्येक वस्तु का अन्त निश्चित है। तब कला को अमर किस अर्थ में कहा जाता है? अमरता का भाव तथा प्रत्येक वस्तु में स्थायी रुचि हमारे हृदय में तभी उत्पन्न होती है जब हम यह भली-भाँति जान लेते हैं कि जीवन में सर्वोत्कृष्ट प्राप्त कर उसका उपयोग किया जा सकता है। यद्यपि कलाकार को यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि उसका शरीर नश्वर है, फिर भी उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि जब तक उसकी कला जीवित है, तब तक वह अमर है और जिस दिन उसकी कला समाप्त हो गई उसी दिन उसका अन्त हो जायेगा। साथ ही उसे अपनी कला-शक्ति की शाश्वतता में अटूट विश्वास होता है। कलाकार की यह भावना उस के आत्मबल तथा उसकी कलात्मक शक्ति की परिचायक है। जैसे-जैसे कलाकार कला की साधना में तन्मय होता जाता है तब वह प्रत्येक वस्तु की आत्मा के साथ घुल मिल कर इतना एक रस हो जाता है कि फिर उसे सर्वत्र सौन्दर्य दृष्टिगत होता है तो अमर है। आत्मा की एक रूपता सपूर्ण समग्र समर्पण की प्रतीक है और जब समर्पण की यह भावना प्रवेश कर जाती है तब इस नश्वरता से नाता टूट जाता है और इस आत्मा के पूर्ण स्वरूप परमात्मा से जुड़ जाते हैं। जीवन का सच्चा अर्थ इसी स्थिति में प्राप्त होता है। सपूर्ण जगत् के वाह्य-भौतिक स्वरूप से अलग-होकर जब कलाकार को मनन और चिन्तन में एक शक्तिमान के दर्शन होते हैं, तब वह जो कुछ अनुभव करता है, उसमें अस्थिरता और अन्त को कोई स्थान नहीं रह जाता। यह स्थिति सदा-सर्वदा अपरिर्वतन शक्ति है। यही आत्मा की अमरता है और यही कलाकार के जीवन का आत्मिक लक्ष्य। इस प्रकार ऐसी स्थिति में पहुँचने पर विरक्ति के अन्तर्गत भी जिस अनुरक्ति की प्राप्ति की होती है, वह या तो समाधिस्थ योगी के लिये सभव है या साधनारत कलाकार के लिये। अत शताब्दियों की साधना द्वारा जो कलामृतम्" हमारे तपस्वी कलाकारों ने हमें प्रदान किया है उसे आत्मसात कर रक्षण करना हमारा परम दायित्व हो जाता है।

'कलामृत रक्षतु भो कवीन्द्र."

सुख एक चिन्तन

मनुष्य जीवन की सारी प्रवृत्ति सुख प्राप्त करने की ओर लगी रहती है साथ ही यह प्रयास भी रहता है कि प्राप्त सुख में निरन्तर वृद्धि हो तथा दु ख से निवृत्ति हो अथवा वह कम से कम हो। धर्म अर्थ और काम का भी यही उद्देश्य है। कुछ लोग कहते हैं जो हमें इष्ट है वही सुख है तथा जो हमें नहीं चाहिये वही दु ख है। इस बात को सम्पूर्ण रूप मे ठीक नहीं माना जा सकता। इष्ट शब्द का अर्थ वस्तु या पदार्थ भी हो सकता है और ऐसा मानने पर हमें पदार्थ को भी सुख मानना पडेगा। जैसे प्यास लगने पर पानी इष्ट है लेकिन पानी को सुख नही कहा जा सकता। प्यास अपने आप में दु ख देती है लेकिन पानी पीने में जो तृप्ति होती है उसे ही सुख कहा जायेगा — इस बात की नैयायिकों ने या व्याख्या की है —

अनुकूल वेदनीय सुखम्-प्रतिकूल वेदनीयम् दु खम्।'

अर्थात् जो वेदना हमारे अनुकूल है वही सुख है और जो प्रतिकूल है वही दुख है। सुख दु ख की यह परिभाषा सामान्यतया तो ठीक प्रतीत होती है।

सुख एक चिन्तन पर विचार करने पर कई प्रश्न सामने उभर आते है। सुख किसे कहते हैं—सच्चा और नित्य सुख क्या है—सुख कैसे प्राप्त हो सकता है—प्राप्त होना सभव भी है या नहीं—क्या दुख का अभाव सुख है अथवा सुख एक स्वतन्त्र स्थिति

है? यह ससार दुखमय है या सुखमय, यदि दोनों है तो किसकी मात्रा अधिक है। सुख और आनन्द में क्या भेद है आदि। चिन्तन के धरातल पर भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से विचार करना उचित होगा। भौतिक दृष्टिकोण से कतिपय भारतीय मनीषी तथा प्रमुखतया पश्चिमी विद्वानों ने इस पर जो सोचा और विचार किया है उनकी विचार धारा को लोकमान्य तिलक के अनुसार इन भागों में विभक्त किया जा सकता है

१ स्वार्थी
२ दूरदर्शी स्वार्थी
३ बुद्धिमान स्वार्थी
४ मनुष्य मात्र का सुख चाहने वाला।

स्वार्थी केवल स्वार्थी सुखवादियों का कहना है—परलोक, आत्मा, परोपकार सब निरर्थक हैं। पच महाभूतों के सयोग से आत्मा नामक एक गुण उत्पन्न हो जाता है जो देहाधार के नष्ट होने पर स्वत नष्ट हो जाता है। दुनिया में स्वार्थ ही सब कुछ है। जिस उपाय से स्वार्थ सिद्ध हो अथवा भौतिक सुख की वृद्धि हो, उसे ही श्रेष्ठ समझना चाहिये। ससार के सारे पदार्थ मेरे उपभोग के लिये है अत जबतक मैं जीता हूँ, उस समय तक येन केन उपायेन' सब कुछ अपने अधीन करके अपनी समस्त कामनाओं को तृप्त कर लूँ- ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।

दूरदर्शी स्वार्थी लेकिन इस तरह का स्वार्थ या सुख ससार में चलना सभव नहीं है। यह कि भौतिक सुख प्रत्येक को इष्ट होता है लेकिन यदि हमारा सुख अन्य लोगों के सुखों में बाधा डालता है तो इसमें लोग विघ्न उपस्थित किये बिना नही रहेंगे। इसलिए कुछ भौतिकवादी पण्डित कहते है कि अपना सुख या स्वार्थ साधन यद्यपि उद्देश्य है फिर भी दूसरों को रियायत दिए बिना अपने सुख का कायम रखना सभव नहीं है—इसलिये अपने सुख के लिये दूरदर्शिता के साथ अन्य लोगों के सुख की तरफ ध्यान देना उचित है। दृष्टात से यो समझाया जा सकता है कि अपने सुख के लिये यदि मै लोगों को मारूँगा तो वे भी मुझे मारेंगे और परिणामस्वरूप मुझे दुख ही प्राप्त होगा। हमें दुख हुआ तो हम रोते हैं और दूसरों को दुख हुआ तो हमें दया आती है तथा हमारे मन में डर होता है कि हमारी ऐसी अवस्था न हो जाए। सुखवादियों का कहना है कि स्वय अपने ही सुख के लिये क्यों न हो परन्तु भविष्य पर दृष्टि रख कर ऐसी नीति का पालन करना चाहिये जिससे दूसरों को दुख न हो।

बुद्धिमान स्वार्थी - मनुष्य का स्वभाव केवल स्वार्थमूलक नहीं है—उसमें परोपकार की मनोवृत्ति भी पायी जाती है। व्याघ्र सरीखा हिंसक जानवर भी अपने बच्चों की रक्षा के हेतु प्राण देने के लिये तैयार हो जाता है, अत हम यह नहीं कह सकते कि प्रेम, परोपकार जैसे गुण स्वार्थ से उत्पन्न हुए हैं। भौतिकवादियों का मत है कि सासारिक सुख के परे यद्यपि कुछ भी नहीं है लेकिन इस मत के लोग भी स्वार्थवृत्ति के समान परार्थवृत्ति को भी स्वाभाविक मानते हैं। स्वार्थ अथवा स्वसुख और परार्थ अर्थात् दूसरों का सुख। इन दोनों तत्वों पर समदृष्टि रखकर कार्य करना चाहिये।

मनुष्यमात्र का सुख चाहने वाला उपर्युक्त तीन वर्गों पर विचार के बाद आधिभौतिक सुखवादियों का एक पथ और भी है—उनका कहना है मनुष्य को सुखी रहने के लिये सारी मनुष्य जाति के सुख को ध्यान में रखना चाहिये। लेकिन इसमें त्रुटि यह है कि कोई एक बात किसी को सुखकारक मालूम होती है तो वही दूसरों के लिये दुखदायक भी हो सकती है—अत सब लोगों के सुख' को अधिक लोगों का अधिक सुख करना पड़ता है। किन्तु विचार करने में इसमें अपूर्णता नजर आती है। अधिक यानी कितना ? जैसे पाडवों की सात अक्षौहिणी सेना थी और कौरवों की ग्यारह—इसमें कौरवों का जीतना ही सगत होता। पर क्या यह उचित एव हितकर होता। साराश में अधिक लोगों को अधिक सुख की बात पूरी तरह ठीक बैठती नहीं है क्योंकि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अधिक लोगों का अधिक सुख किसमें है। इसके दूरगामी परिणाम सुखप्रद ही हों यह भी आवश्यक नहीं है।

इन आधिभौतिक सुखवादियों का जो श्रेष्ठ पथ है उनका कहना है कि जब स्वार्थ और परमार्थ में विरोध उत्पन्न हो जाय तो स्वार्थ को त्यागकर परार्थ-साधन के लिये यत्न करना चाहिये। उनके अनुसार मनुष्य में केवल परोपकार बुद्धि का ही उत्कर्ष नहीं हुआ है—उसमें प्रेम, वात्सल्य, शौर्य न्याय-बुद्धि , दया, समानता दूरदृष्टि, तर्क शूरता धृति, क्षमा इन्द्रियनिग्रह इत्यादि सात्विक सद्गुणों की भी वृद्धि हुई है—इसे हम मनुष्यत्व की सज्ञा दें। केवल परोपकार की अपेक्षा मनुष्यत्व श्रेष्ठ है। अत सुख के लिये केवल परोपकार की दृष्टि से कार्य न करके मनुष्यत्व की दृष्टि से कार्य करना वाछनीय है।

उक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि भौतिक सुखवादी केवल स्वार्थ सुख की कनिष्ठ श्रेणी मे आगे बढ़ते-बढ़ते अन्त में मनुष्यत्व की श्रेणी तक पहुचे हैं—परन्तु मनुष्यत्व के विषय में भी प्राय सबलोगों में बाह्य सुख पर भी अधिक विचार किया गया है। सच्चा और नित्य सुख क्या है ? इस विषय पर गम्भीर रूप से विचार करने पर भी वे

सर्वांगीण व चिरतन सुख प्राप्त करने का साधन नहीं बता पाये हैं।

प्रकृति जैसे त्रिगुणात्मक है उसी प्रकार सुख भी तीन प्रकार का है —

१ राजस २ तामस एवम् ३ सात्विक

राजस श्रीमद्‌भगवद् गीता में सुख को त्रिविध बताते हुए भगवान ने राजस सुख की मार्मिक व्याख्या की है —

विषयेन्द्रिय सयोगाद्यत्तदग्रे ऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजस स्मृतम्।। (गीता १८।३८)

जो सुख विषय और इन्द्रियों के सयोग से होता है, वह यद्यपि उस समय अमृत के समान लगता है परन्तु वास्तविकता में वह विषवत ही होता है इसलिये इस सुख को गीता में राजसी सुख माना है। यह सुख, बल, वीर्य, बुद्धि, धन-उत्साह आदि को क्षीण करता है। रजोगुण में कार्याधिक्य है प्रचण्ड कर्म कोलाहल है, अशांति है, अहकार है, अतिशय लोभ है और अन्त में है—घोर दुख मय नैराश्य।

राजसी सुख में सारा प्रयास दैहिक एव ऐहिक सुख प्राप्ति तक सीमित है जो मूल में अह केन्द्रित होने के कारण इसके द्वारा उत्पन्न सुखानुभूति राजसी सुख के अन्तर्गत आती है।

तामस गीताकार के शब्दों में तामस सुख निम्न प्रकार से परिभाषित है,

यदग्रे चानुबन्धे च सुख मोहनमात्मन ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थ तत्तामसमुदाहृतम्।। (गीता १८।३९)

अर्थात् यह सुख भोग- काल में और परिणाम में भी आत्मा को अज्ञानाच्छन्न करने वाला है। निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।

आज के दृष्टिकोण से हम यों कह सकते हैं अपने सुख के लिये जब व्यक्ति दूसरों का अहित करने पर तुल जाता है तथा समस्त मूल्यों की अवहेलना करता है तब वह सुख तामसी कहलाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये मानवीय अथवा नैतिक मूल्य कोई अर्थ

नहीं रखते। स्वार्थ सिद्धि एव सुख प्राप्ति के लिये वह किसी भी प्रकार का अपराध या अनिष्ट करने में सकोच नहीं करता। उनकी सभी प्रवृत्ति राक्षसी होती है। उसका सुख अमानवीय होता है क्योंकि उसके प्रेरक अहकार दर्प काम क्रोध, लोभ, आलस्य प्रमाद जैसे अवगुण होते हैं। यह अत्यन्त निम्न कोटि का सुख है। इसे सुख कहने में भी औचित्य प्रतीत नहीं होता।

सात्विक सात्विक सुख श्रेष्ठ सुख है। इसमें व्यक्ति सुख की कामना तो करता है लेकिन वह सुख मात्र अपने लिये नहीं होता। वह दूसरों के हित को ध्यान में रख कर अपने सुख-साधन का प्रयास करता है।

सात्विक सुख को गीता में अमृतोपम बताया गया है और इसे आत्मबुद्धि का प्रसाद' कहा है —

> **यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**
> **तत्सुख साच्विक प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।** (गीता १८।३७)

वह सुख प्रथम साधन के आरम्भ काल में यद्यपि विष के सदृश भासता है परन्तु परिणाम मे अमृत के तुल्य है इसलिये आत्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न यह सुख सात्विक कहा जाता है। जैसे खेल म आसक्त बालक को विद्या का अभ्यास, मूढ़ता के कारण प्रथम विष के तुल्य भासता है—वैसे ही विषयों में आसक्तिवाले पुरुष को लोकमगल के शुभकार्यों का अभ्यास न होने के कारण ये प्रथम विष के सदृश प्रतीत होते हैं—लेकिन अन्ततोगत्वा दोनों का परिणाम शुभ एव सुखद होने के कारण अमृत सम हो जाते हैं। इसे सात्विक सुख की सज्ञा दी गई है।

सुख एवम् सतोष कतिपय व्यक्ति कहते हैं कि सतोष ही सुख है लेकिन यह एकागी सत्य है। सब समय सतोष सुख का कारण नहीं हो सकता। व्यवसायी यदि व्यापार में सतोष कर ले तो समार में विकास की प्रगति रुक जायेगी। विद्वान् यदि विद्या अध्ययन से सन्तोष कर ले तो ज्ञान का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। वेदान्त शास्त्र में मानसिक सुख को विशेष महत्व दिया गया है। बाह्य पदार्थों के सस्पर्श से इन्द्रियों को जो अनुभूति होती है उसे हम भौतिक या शारीरिक सुख कहेंगे और मानसिक सुखों व दु खों को आध्यात्मिक कहेंगे। मात्र शारीरिक सुख से निवृत्त होने पर सुख मिलता है यह बात भी कभी-कभी भ्रमात्मक प्रतीत होती है। शारीरिक दु खों को सहते हुए भी अपने आदर्श के लिये मनुष्य उसमें सुख की अनुभूति कर सकता है। दृष्टान्त स्वरूप बाढ में सेवा कार्य के लिए जाने

पर काफी दु ख और कष्ट होता है लेकिन उस राहत कार्य में मनुष्य को सुख और आनन्द की अनुभूति होती है। यदि यह सेवा कार्य शुद्ध सेवा भाव से है तो यह सुख सात्विक है और आनन्द में परिणत हो जाता है। यदि यह कार्य यश की लिप्सा से किया गया है तो वह राजस है इसमें सुख तो मिलता है लेकिन आनन्द तिरोहित हो जाता है—किन्तु यदि यही सेवा कार्य लाभ की दृष्टि से किया जाय तब तो वह तामसी ही हो जायेगा।

एक मत यह है कि मनुष्य की सब सासारिक प्रवृत्तियाँ वासनात्मक या तृष्णात्मक हैं। जब तक सामारिक कर्मों का त्याग नहीं किया जायेगा तब तक वासना या तृष्णा की जड़ उखड नही सकती और तब तक सात्विक सुख और आनन्द का मिलना सम्भव नहीं है। अत जिस किसी को आत्यन्तिक सुख प्राप्त करना है उसके लिये यही उचित है कि जितनी जल्दी हो सके ससार छोडकर सन्यास ले ले। लेकिन मात्र सन्यास लेने से ही तृष्णाएँ एव एषणाएँ नष्ट नही हो जातीं। हमने प्राय देखा है कि सन्यास लेने के पश्चात् भी यशेषणा तो रहती ही है साथ ही इसके मूल में अहकार भी कहीं न कही छिपा रह जाता है। भले ही वह सात्विक ही क्यों न हो। केवल इन्द्रियों को सयमित करने से मानसिक व्यापार या विभिन्न एषणाओं से निवृत्ति नहीं मिलती।

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते।। (गीता ३-६)

अत सन्यास लेने मात्र से ही नित्य सुख की प्राप्ति हो जाती है यह मान्यता पूर्णरूपेण ग्राह्य नहीं है। सब प्रकार के सुख-दु ख हमारे मन पर ही अवलम्बित हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन पाया जाता है ——

अन्यत्रमना अभूव नादर्शम् अन्यत्रमना अभूव ना श्रौषम्।।
(वृहदारण्यक उप० २।५।३)

कहने का तात्पर्य, मेरा मन दूसरी ओर था इसलिये मैं देख नही सका। मेरा मन दूसरी ओर था इसलिये मैं सुन नही सका। इस प्रकार यह बात प्रतीत होती है कि मन का इन्द्रियों के व्यापार के साथ विशेष सम्बन्ध है। मनोनिग्रह से सुख दुखों का निग्रह अथवा नियत्रण करना सभव है। मनु ने भी कहा है——

सर्वं परवश दु ख सर्वमात्मवश सुखम्।
एतद्विघ्यात्समासेन लक्षण सुखदु खयो ।।

अर्थात् बाह्य पदार्थों के वशीभूत होना ही पराधीनता है इसलिये दु:ख है और जो अपने अधीन है अर्थात् आत्मा के अधीन है वही सुख है। तुलसीदासजी भी कहते हैं—**'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'** हम यह कह सकते हैं कि सारे सुख-दु:ख की अनुभूति मन को होती है। अनुकूलता में वह सुख अनुभव करता है और प्रतिकूलता में दुख। यदि मन सुख-दु:ख में उद्वेलित नहीं होता है, यानी आत्मा के अधीन हो जाता है तो सुख की अनुभूति ही होगी।

क्या सुख दु:ख का अभाव है अथवा सुख-दु:ख अलग-अलग प्रवृत्तियाँ हैं या सुख कोई सत्तात्मक या भावात्मक स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस पर मेरी मान्यता है सुख-दु:ख का अभाव मात्र नहीं है। उसका अपने आप में स्वतन्त्र अस्तित्व है। जब इच्छित वस्तु जल्दी नहीं मिलती तब दुख होता है और उसे प्राप्त करने की इच्छा तीव्र होने लगती है। जब चाह अधिकाधिक बढ़ने लगती है तब वह इच्छा तृष्णा में बदल जाती है और दु:ख का कारण बनी रहती है। लेकिन एक ऐसी भी स्थिति होती है जहा कोई इच्छा अथवा तृष्णा नहीं होती है फिर भी सुखानुभूति हो सकती है। उदाहरण के लिए एक छोटे बच्चे के मुँह में हठात् एक मिश्री की डली डाल दी जाय तो उसे निश्चित रूप से सुखानुभूति होती है लेकिन यह स्पष्ट है कि इसके पूर्व बच्चे के मन में कोई इच्छा अथवा तृष्णा नहीं थी जो उसे दु:खी करती हो।

एक प्रश्न बार-बार सामने आया करता है कि यह ससार दु:खमय है या सुखमय। बौद्धदर्शन ससार को दुखमय मानता है। दु:ख प्रथम आर्य सत्य है यह उनकी घोषणा है—क्योंकि जरा, व्याधि मरण इत्यादि दु:ख तो सबको लगे हुए ही हैं।

थोड़ी देर के लिए मान लें कि ससार केवल दु:खमय है तो यह प्रश्न सहज ही उठता है कि निरन्तर दु:ख को सहने के बाद भी लोग आत्महत्या क्यों नहीं करते? सभी क्यों जीना चाहते हैं। जीने में और सुरक्षित रहने में उन्हें कहीं न कहीं सुख अवश्य है। व्यवहार जगत् में दु:ख भी है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन ससार में दु:ख की अपेक्षा सुख ही अधिक प्रतीत होता है। ये त्यौहार, ये उत्सव, ये नाटक, ये सगीत अथवा नृत्य सभी ससार के सुखमय होने की अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवन में दु:ख भी आता है और सुख भी आता है। प्राय यह देखा गया है कि हर दु:ख में रहने वाले व्यक्ति को भी समय-समय पर सुखानुभूति होती है। गरीबी में रहने वाले आदिवासी लोग भी त्यौहारों में खुशियाँ मनाते हैं और सुख-सुविधाओं में पलने वालों को भी चिन्ता इत्यादि झेलनी ही पड़ती है। आधिव्याधि जरा तो प्राणी मात्र को लगी हुई है अत यह सुख-दु:ख

का चक्र ससार में चलता ही रहता है।

इन सारी बातों से सहज ही जिज्ञासा होती है कि सच्चा और नित्य सुख क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। ससार के पदार्थों में या सासारिक उपलब्धियों में जो सुख मिलता है वह स्थायी नहीं है। शुरू में उसकी जो तीव्रता रहती है वह धीरे-धीरे मन्द होती जाती है और वह सुखाभास में या मृगतृष्णा में बदल जाता है। भोगों को भोगते-भोगते भोग ही हमें भोगने लग जाते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता । (भर्तृहरि)

ययाति का दृष्टात हमलोगो के सामने ही है। इसके उत्तर के लिए भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर जाना पड़ेगा। आध्यात्मिक चिंतन में जब हम समत्व स्थिति मे जाते हैं तो लौकिक सुख-दु ख लीला' में बदल जाते है और हम अपने स्वरूप मे यानी नित्य सुख मे लीन हो जाते हैं। ऐसे सुख को पाने का प्रथम सोपान है—सात्विकता सद्गुणों का विकास दया, करुणा, क्षमा, उदारता आदि दूसरों के सुख-दु ख के साथ अपने को जोड़कर हिस्सा बँटाना जगत् में सभी वस्तुओ में ईश्वर का दर्शन करना **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना के साथ मैत्री आदि सद्वृत्तियों की तरफ अग्रसर होना निरहकार रहने की साधना और इसी के फलस्वरूप हम नित्य सुख में प्रवेश कर सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है कि यदि हम मन एव इन्द्रियो को आत्मा के अधीन कर सके और अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर सके तो मन एव इन्द्रियाँ जो जीवन में सुख-दु ख का द्वन्द्व उत्पन्न करती है वे कल्याणकारी एव नित्य सुख प्रदान करने वाली बन जायेंगी। क्योंकि वे आत्मा से शासित हो जाती हैं।

सुख और आनन्द गीता में सुख-दु ख दोनों को द्वन्द्व के रूप में चित्रित किया गया है—इनके प्रति समत्व का भाव रखते हुए स्वधर्माचरण के मार्ग को प्रशस्त किया है ——

सुख दु खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २/३८)

साधारणतया सुख एव आनन्द का पर्यायवाची मान लेते है लेकिन ऐसा नही है—सुख मन की स्थिति की बात है जहाँ कि आनन्द का सम्बन्ध आत्मा से है। एक दृष्टात से शायद यह बात स्पष्ट हो जाती है। वसन्त ऋतु मे प्रकृति जब चारों तरफ शस्यश्यामल

सुख एवम् अध्यात्म अध्यात्मवादी भी मनुष्यत्व की बात को स्वीकार करते हैं लेकिन उनके दृष्टिकोण में मात्र शारीरिक सुख एव भौतिक सुख ही प्रधानता नहीं रखते। उनकी मान्यता है जैसे—ईशावास्योपनिषद् में कहा है—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'

उपनिषद्कार का कहना है कि त्यागकर उपभोग करो—अर्थात् प्राप्ति में नहीं त्याग में ही वास्तविक सुख है। यह हमारा सामान्य अनुभव है—दूसरों के हित के लिये किए गए त्याग में भी अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। लेकिन दोनों का हेतु अलग-अलग है। अध्यात्मवादी इन्द्रियजनित सुखों को नकारते नहीं हैं वे भी पुष्टि और तुष्टि की बात करते हैं प्रेयस् और श्रेयस् की बात करते हैं केवल मात्र दृष्टिकोण का फर्क है। उनके लिए सुख का लक्ष्य मात्र देह केन्द्रित नहीं है वहाँ आत्मा केन्द्रित है।

सुख प्राप्ति के लिये हमें आत्मा की ओर चलना होगा। यहाँ हमें प्रेम करुणा सेवा, निष्कामना का क्षेत्र मिलता है। इसमें तृप्ति है पूर्ण कामना है सतुष्टि है। निष्कर्ष के रूप में कहेंगे, अभ्युदय एव निश्रेयस् को जिसके द्वारा हम प्राप्त कर सकें वही सुख का सच्चा मार्ग है। इसी का नाम धर्म है। धर्म ही हम सबको एक सूत्र में बाँधता है या धारण करता है—'**धारयति इति धर्म** ' यह सूत्र मानव निहित परस्पर प्रेम का भाव ही है। जो कुछ विवादी स्वर सुनाई देते हैं वह हमारे स्वार्थ एव सकीर्णता के ही परिणाम हैं। अत जब तक हम समस्त मानव जाति को परिवार के रूप में अनुभव नहीं करते हम सच्चे सुख की अनुभूति नहीं कर सकते। यह व्यापक दृष्टिकोण ही मानव-मानव को जोड़ता है उसमें सामजस्य स्थापित करता है। इसलिये उपनिषद् ने कहा—

यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति (छा० उ० ७-२३)

व्यापकता में ही सुख है सकीर्णता में नहीं। यह समस्त विश्व एक नीड है जिसमें मानवता पलती है।

विश्वैक नीडम्'

हम सब इसी वृहद् परिवार के सदस्य हैं। इस विश्व बन्धुत्व की अनुभूति में ही स्थायी सुख निहित है। धर्म के इस समन्वयात्मक प्रसाद से ही मानव के चारों पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम मोक्ष सिद्ध होते हैं—यही समवेत सुख प्राप्ति है।

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों के समन्वय में मानव जाति का चिरन्तन सुख निहित है। इसी में हमारी भावना हमारी प्रार्थना हमारी आकाक्षा साकार होगी।

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु ख भागभवेत्।।

मौन

मौन मूलत वाणी का तप है। बहिरग प्रवृत्ति के मध्य जब व्यक्ति मनन और चिन्तन करता है तब वह सहज रूप में मौन हो जाता है। यही कारण है कि मौन शब्द मन, मनन और मुनि शब्द से जुड गया है। मुनि भाव मौनम् मन जहाँ अपनी चचलता को उपराम करते हुए मनन और चिन्तन मे प्रवृत्त होता है उसकी वाणी भी अन्तर्मुखी बन जाती है उसकी वाह्य मुखरता स्तम्भित सी हो जाती है। अन्तर्यात्रा यहीं से प्रारम्भ हो जाती है। ऐसा लगता है मानो वाणी सारे ससार के सभी प्रपचों से मुक्त होकर प्रत्यावर्तन कर लेती है। वह मौन हो जाती है। मन जो वाणी की मुखरता के साथ सक्रिय रहता है चचल रहता है वह भी शात एव उद्वेग रहित होकर अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस दृष्टि से मौन स्वरूप - दर्शन की प्रेरक शक्ति है। अपने स्वरूप में स्थित होना ही मुनि भाव है।

भारतीय चिन्तकों ने वाणी की चार स्थितियों का उल्लेख किया है - परा पश्यन्ति मध्यमा और वैखरी। इसमें वैखरी वाणी की मुखरता की स्थिति है। वह नाम रूप शब्द और अर्थ के माध्यम से अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है। पश्यन्ति मौन की स्थिति है जहाँ स्वरूप का दर्शन होता है। पश्यन्ति का अर्थ ही देखना है। वैखरी और पश्यन्ति के बीच की सेतु मध्यमा है जहाँ वैखरी वाणी उपशमित होते हुए मौन हो जाती है। परा में तो वाणी स्वरूप में स्थित हो जाती है स्व में लीन हो जाती है वह मौन की पूर्ण

स्थिति ज्ञानमयी स्थिति है। अवस्था की दृष्टि से कहें तो यह मुनि की तुरीय अवस्था है। ब्रह्म साक्षात्कार की अनुभूति है। अत आध्यात्मिक स्तर पर पूर्ण मौन ब्रह्म ज्ञान की स्थिति है जिसे जान लेने से और कुछ जानना शेष नहीं रहता। इसलिए मौन शब्द से अशब्द नाद से अनहदनाद, वैखरी से मध्यमा, ससीम से असीम, अपूर्णता से पूर्णता की यात्रा है। इस तथ्य को हम एक मधुर रूपक से ग्रहण कर सकते है। पुष्प पर मडराता हुआ भ्रमर गुजार करता रहता है, निकट आने पर गुजार की ध्वनि क्षीण पड़ने लगती है। पुष्प पर रसपान हेतु स्थित हो जाने पर ध्वनि बन्द हो जाती है और रसपान करते समय वह आनन्द मग्न हो जाता है। ध्वनि होती ही नही है। रस पान का अर्थ ही है, आनन्द पान या परमानन्द की अनुभूति। पूर्ण मौन आनन्द का पर्यायवाची हो जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से मौन की तीन अवस्थाएँ हैं आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक। इसका परम लक्ष्य इनके परे ही समझना चाहिए।

आधिभौतिक मौन

मौन को हम वाणी की जननी मान सकते है। ऐसा लगता है कि जीवन का प्रारम्भ मौन भग से ही होता है। उत्तरोत्तर वाणी का विकास होता है। मानव के भाव और विचार को व्यक्त करने का सामान्यतया साधन वाणी ही है। हमें पशु जगत् से भिन्न करने वाली वाणी की सत्ता ही है। वाणी के माध्यम से ही मानव मानव मे परस्पर सबध एव सपर्क स्थापित होते है। अत मुखरता जीवन का साधारण क्रम है। वाणी के प्रसाद या कृपा से ही मानव की लोक यात्रा प्रारम्भ होती है।

'' वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते''

मानव की सारी प्रगति का मूल वाणी ही है। हम जानते है कि वाणी से ही शब्दों का आविर्भाव हुआ है जो भाषा के रूप में हमें प्राप्त हुई है। लिखित भाषा हो चाहे मुखर वाणी हो विचार और भाव व्यक्त करने में दोनों समान ही है। वाणी ही भाषा रूपी लिपि चिन्हों में संप्रेषित होती है। यह लिपि का ही प्रभाव है कि विचार पीढ़ी दर पीढ़ी हमे प्राप्त होते जाते हैं। वाणी से ही मानव को हर क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त होता रहता है।

भारतीय चिन्तकों ने वाणी को अग्नि स्वरूपा माना है। इसके सद् उपयोग से यह मानव मात्र का पोषण करती है और दुरुपयोग से उसको विनाश के कगार पर उपस्थित कर देती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि वाणी परिमित एव मित या मैत्री पूर्ण होनी चाहिए। दुनिया में बहुत से उपद्रव, हिंसा, एव अशाति का कारण

वाणी का असयम रहा है। लौकिक व्यवहार में वाणी प्रिय एव हितकर होनी चाहिए। वास्तव मे वाणी ही मनुष्य का भूषण है ' वाक् भूषणम् "(भर्तृहरि)। वाणी अति वैखरी न होकर सक्षिप्त होनी चाहिए। इसके लिए मनुष्य को सजग प्रयास करना चाहिए। उतना ही बोलना चाहिए जितना आवश्यक है। प्रसाद ने ठीक कहा है प्रत्येक स्थान और समय बोलने के नही होते, कभी-कभी मौन रहना बुरी बात नही है"। हर बात प्रतिकारात्मक बोलने से विवाद एव क्षोभ उत्पन्न होने की सभावना बन जाती है। अत धीरे-धीरे वाणी के सयम की साधना करनी चाहिए। इसी क्रम में वाणी के मौन को मौन व्रत की सज्ञा दी गई है।

मौन का स्थूल रूप व साधना

मौन का स्थूल रूप चुप रहना है किन्तु चुप रहने मात्र से व्यक्ति मौन है, यह नहीं कहा जा सकता। बाह्य दृष्टि से मौन प्रतीत होने वाले व्यक्ति के अन्तर मे गभीर द्वन्द्व हलचल व मानसिक उथल पुथल चल सकता है।

इसलिए मौन साधना मे इन अशान्त वृत्तियो के मन व उनमे सामजस्य स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। इस साधना का प्रारम्भ वाणी के अपव्यवहार या अनावश्यक शब्द व्यवहार के नियत्रण से करना सर्वथा उचित है। यहाँ यह जानना समीचीन होगा कि वाणी मूकता नही है। मात्र नहीं बोलने की प्रक्रिया नही है। वह सजग आत्मानुशासन है। इस अभ्यास मे हमारे लौकिक व्यवहार में भी वाणी सीमित एव मित बन जाएगी। मौन मे अपने आप एक अन्तर्विरोध है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है यदि अन्तर मे ऊहापोह हो तो चुप रहते हुए भी व्यक्ति मौन नहीं कहलाएगा। मौन तो हृदय में होना चाहिए। सत और महात्मा जनहित के लिए प्रवचन करते हुए भी आतरिक शान्ति के कारण मौन ही माने जाएगे। इसलिए वाणी परिसीमित करने की साधना वास्तव मे आन्तरिक सामजस्य एव शान्ति प्राप्त करने के लिए ही है।

मौन की गति तीव्र

हम दैनन्दिन जीवन में प्राय अनुभव करते है कि भाव संप्रेषण मे मौन की गति अत्यन्त तीव्र है और जहाँ सवेदन की प्रधानता हो वहाँ तीव्रता के साथ-साथ वह और भी अधिक प्रभावशाली बन जाती है। एक माँ का पीठ पर हाथ फेरने से कितना वात्सल्य उमड़ पड़ता है उसकी अनुभूति पुत्र या पुत्री ही कर सकती है। वह सद्य सम्पादित होती है। हजार शब्द भी उस भाव को शब्दों मे निरूपित नही कर सकते है। दो मित्र गले मिलते हैं तो इस सुखद अनुभूति का चित्राकन करने में शब्द बार बार अपनी असमर्थता ही व्यक्त करते है। यही बात रूप, रस गध शब्द सभी अनुभूतियो की अभिव्यक्तियो

के लिए कही जा सकती है। अनुकूल वाणी की परिधि में नहीं बधते। उनका सद्य स्फूर्त अन्तर्तम में ही उद्रेक होता है। उनकी अभिव्यक्ति मौन ही होनी है।

मौन पूर्णता का पथ प्रदर्शक

मौन सम्मति का लक्षण है यह प्रचलित कहावत है, किन्तु मौन में स्वीकृति और अस्वीकृति की अभिव्यक्ति एक साथ हो सकती है। अत स्थिति के अनुरूप इसे मोड़ दिया जा सकता है। हम लोक व्यवहार में प्राय देखते हैं कि जितनी अपूर्णता और अपरिपक्वता है, अत्यन्त मुखर है। जैसे-जैसे पूर्णता आती है, मौन सहज और स्वत प्राप्त हो जाता है। रामकृष्ण कहा करते थे' जब तक घड़े में रिक्तता रहती है, डब-डब ध्वनि करता रहता है- पूरा भरते ही वह मौन हो जाता है। जब तक पूड़ी कच्ची रहती है, वह तलने समय शोर करती है, पकते ही चुप हो जाती है।' इसलिए मुखरता की अपरिपक्वता मे हम परिपक्वता की ओर अग्रसर होना चाहिए। रिक्तता मे पूर्णता की ओर गमन करना चाहिए। इस साधना में मौन हमारा पथ पदर्शक हो सकता है। मौन तो हृदय में होना चाहिए। मौन रहकर, कागज पर लिखना तो एक प्रकार का लेखनी द्वारा बोलना ही है। हृदय में जो मौन स्थिर कर लेता है फिर बाह्य रूप से बोलना भी मौन ही है। जिस प्रकार हम भीड़ में एकाकी होने का अनुभव कर सकते है, उसी प्रकार वाणी के मध्य भी हम मौन की अनुभूति कर सकते हैं। मौन तो हमें पूर्णता का पथ निर्देश करता है।

आधिदैविक स्वरूप

मौन को व्यावहारिक स्वरूप में मुखरता का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसे मौन का विवेचन करना ही अपने आप में विरोधाभास है फिर भी शब्द और वाणी के आश्रय से ही हम व्यावहारिक जगत् मे कार्य कर सकते हैं और मौन भी मन के व्यापार को नियन्त्रित करता है। परिमित वाणी का प्रयाग मौन का आधिदैविक स्वरूप है यह मौन की एक प्रकार से मध्यमा स्थिति है। यहाँ मौन के विकारों का परिष्कार कर मनोनिग्रह एव चित शुद्धि की भूमिका प्रस्तुत करता है। यह मन की साधना स्थिति है। जहाँ हम अपनी वाणी को सयत करते है। जैसे-जैसे मन का निग्रह होगा वाणी सीमित होती जायेगी। वाणी सयमित होने का अर्थ ही बाह्य प्रवृत्तियों में आसक्ति का सिमटना। जैसे-जैसे हमारी लौकिक आसक्तियाँ आकाक्षाएँ क्षीण होंगी हमारी वाणी के वैखरीपन का भी मौन निग्रह होगा। इस से मन विचार और क्रिया तीनों की शुद्धि होगी। मौन का यह प्रसाद भाव शुद्धि के साथ साथ सामञ्जस्य प्रदान करता है। आधिदैविक स्थिति में मौन मनोनुशासन का रूप धारण करता है। वह शक्ति सचय का साधन बनता है। अपने आपको समझने एव परखने का अवसर प्रदान करता है। यही कारण है महात्मा गाधी सप्ताह में एक

दिन मौन रखते थे एव सात दिवस की प्रवृत्तियों का अवलोकन एव स्व-समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं प्रतिक्षण अनुभव लेता हूँ कि मौन सर्वोत्तम भाषण है। अगर बोलना ही चाहिए तो कम बोलो। एक शब्द से चले तो दो नहीं' । (बापू के आशीर्वाद पृ०120) मौन के महत्व का उल्लेख करते हुए वे मणि बहिन को पत्र में लिखते हैं मौन म ही जिसका ध्यान लग जाता है उसे आस पास की गप शप नहीं सुनाई देती। मौन मन को शनै शनै एकत्र करता है। (14 12 1932)। इसमें मन की बहिर्मुख चचलता कम होने लगती है। जब मन अपने आपको समझने का प्रयास करता है तब उसका मुखरपन घटता है वह मौन होने लगता है। मन का मन द्वारा विश्लेषण व मूल्याकन करना अपने आप में मौन में ही सभव हो सकता है। यह स्वय में आधिदैविक प्रवृत्ति है। इस मौन चिन्तन से ही हम भविष्य का चिन्तन व सही सयोजन कर वर्तमान को सुसगत एव सुचारु बना सकते हैं। अत मनन के पीछे मौन का गहरा सहयोग रहता है। मौन ही सोचने और समझने और क्रियान्वित करने के सकल्प को प्रभावशाली बनाता है। आधिदैविक सतापों से मुक्त होने का मौन ही विशिष्ट साधन है।

जब तक मन चौकड़ी भरता है उसकी प्रवृत्ति एव वाणी वैखरी रहती है वह उद्वेग परिपूर्ण रहती है। जैसे ही वह अपने स्वरूप को समझने और जानने का प्रयास करता है मन शान्त एव स्थिर होने लगता है। वह स्वरूप मे स्थित हो जाता है। स्वरूप मे व्यक्ति तभी स्थित होता है जब उसमे अहकार का लेश मात्र नही रहता। इस दशा मे व्यक्ति स्वत मौन हो जाता है। इसमे मन अपने समस्त इन्द्रियों के व्यापार से मुक्त होकर आत्म रूप में लीन हो जाता है। मौन हो जाता है। यह तो मन और अहकार के आत्म समर्पण की अवस्था है जिसमें ज्ञान के साथ भावना भी घुलमिल जाती है। आत्म समर्पण में व्यक्ति मौन हो जाता है — तूष्णीम् बभूव ' मौन होकर स्थिर हो जाता है। इस स्थिति में मोह और ममता निश्शेष हो जाती है। ऐसे व्यक्ति का चित और चरित्र निर्मलता प्राप्त करता है। उसका मौन पूर्ण आनन्द का अग्रदूत हो जाता है। आधिदैविक मौन आध्यात्मिक मौन में परिणत हो जाता है।

आध्यात्मिक मौन

आध्यात्मिक दृष्टि से मौन आनन्द की स्थिति है वह पूर्णता की स्थिति है। वह अपने उच्चतम स्वरूप में ब्राह्मी स्थिति है या परब्रह्म ही है। यही कारण है कि समस्त दृश्यमान जगत् या सस्कृति में अत्यन्त गतिशीलता देखते हुए भी हम निरन्तर अनुभव करते हैं कि सस्कृति का स्रष्टा सर्वथा मौन है। इसलिए मौन की साधना ब्रह्म विद्या की साधना है। वह आत्म निग्रह है मौनमात्मनिग्रहम् गीता17/16।

शास्त्रों के गूढ़तत्व का निरूपण करने या समझने के लिए विद्वानों को व्याख्यान का आधार लेना पड़ता है। अत्यन्त कुशलता के साथ, शब्दों की मृदुल झरने सी झड़ी लगा कर भी यदि विद्वान् वक्ता उस ज्ञान के मर्म को व्याख्यायित करें तो भी उसे वाणी का उपभोग ही समझना चाहिए। वह मुक्ति का साधन नहीं बन सकता। श्रेष्ठतम गुरु का प्रवचन तो मौन ही है मौनम् व्याख्यानम् ' । आदि शकराचार्य दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में लिखते हैं-

''चित्र वटतरोर्मूले वृद्धा शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौन व्याख्यान शिष्यास्तु छिन्नसशया ।।

बड़ी विचित्र बात है कि वट वृक्ष के नीचे युवा गुरु के सान्निध्य में वृद्ध शिष्य बैठे हुए हैं। गुरु के मौन व्याख्यान से जिज्ञासु शिष्यों के सभी सशय समाप्त हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, जिज्ञासाओं का समापन वैखरी वाणी के तर्कों से नहीं होता वह तो आध्यात्मिक अनुभूति से ही होता है। जिसे ब्रह्मविद् गुरु ही प्रदान कर सकते हैं। ज्ञान तो चिर युवा है नित्य है उसकी दृष्टि ही समस्त सशयों को समाप्त कर देती है। वाणी की वैखरी सत्ता अत्यन्त सीमित होने के कारण वह आत्म तत्व का बोध नहीं करा सकती। ब्रह्मज्ञान बौद्धिक तर्क-वितर्क व्याख्यान सुनने से या प्रवचन करने से प्राप्त नहीं हो सकता। कठ उपनिषद् वाणी की दुर्बलता को स्पष्ट करते हुए कहता है -

''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'' क०उ०2/23

आत्म ज्ञान बुद्धि द्वारा अग्राह्य है, वह तो परम तत्व का साक्षात्कार है जहाँ वाणी की मुखरता का प्रवेश नहीं है। न मन का है और न आँखों का अर्थात् सभी इन्द्रियों का।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुशक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तद् उपलभ्यते।। क०उ०2/12

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका मूल स्वरूप शब्द ' होने के कारण वह मौन से ही प्राप्त कर सकता है। इसका वर्णन भी शब्दों की परिधि में नहीं आता। इसीलिए ऋषि इसे यह नहीं यह नहीं "नेति नेति" कह कर ही समाधान करते हैं। परमतत्व की अनुभूति में शब्दों की प्रवृत्ति नहीं रहती।

सर्व शब्द प्रवृत्ति निमित्त शून्यत्वात् तस्य
शब्दान् अभिधीयत्व इति''। (शकराचार्य)

इस परम अनुभूति में साधक मौन रहता है। यह तो आत्मा का परमात्मा के साथ मिलने का परम आनन्द है। यही भक्त का महाभाव एव ज्ञानियों की समाधि अवस्था है। यही जीव और ब्रह्म के ऐक्य की स्थिति है मौन की उच्चतम उपलब्धि है। यही मौन का पारमार्थिक एव आध्यात्मिक स्वरूप है।

मौन हमारे आधिभौतिक , [illegible]धिदैविक एव आध्या[illegible]मिक जीवन का परिष्कार करते हुए भगवत् साक्षात्कार की उच्चतम भूमिका निवाह करता है। मौन मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य सपादित कर व्यक्ति की परा अवस्था प्राप्त कराने में सफल होता है। यह तो अनासक्त द्वन्द्वरहित एव गु[illegible]त स्थिति है। यह आधिभौतिक आधिदैविक एव आध्यात्मिक तीनो अवस्थाओं की अवस्था है। य[illegible] [illegible] अवस्था है।